UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180901

UNIVERSAL
LIBRARY

सत्याग्रही

या

हरिश्चन्द्र नाटक

लेखक

व्रजनन्दन शर्मा

प्रकाशक

दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा,

मद्रास.

सर्वाधिकार सुरक्षित]

हिन्दी प्रचार पुस्तक माला, पुष्प—४०.

दूसरा संस्करण, अप्रैल—१९४०.

मुद्रक—
हिन्दी प्रचार प्रेस,
त्यागरायनगर, मद्रास.

समर्पण

पूज्य बापूजी !

आपके महान, पवित्र चरित्र से कुछ बूँदें लेकर अपनी लेखनी पवित्र करने की कोशिश की है।

फिर इसे लेकर और कहाँ जाऊँ?
क्यों न आपके ही चरणों में रख दूँ!
और कहूँ—

"त्वदीयं वस्तु गोविन्द, तुभ्यमेव समर्पितम्"

—व्रजनन्दन.

प्रस्तावना

अन्यान्य अनेक विषयों की भांति नाटकों की जन्म-भूमि भी हमारा यही देश भारतवर्ष माना जाता है। जिन लोगों ने प्राचीन सभ्यता और संस्कृति आदि के क्षेत्रों में अच्छी जांच-पड़ताल की है, वे जानते हैं कि भारतवर्ष में उन दिनों भी नाटकों का अच्छा प्रचार था, जिन दिनों अनेक दूसरी प्राचीन जातियाँ उन्नति की प्रारंभिक श्रेणियों पर भी पैर नहीं रख सकी थीं। ऐतिहासिक दृष्टि से हमारे यहाँ के महाकवि भास के नाटक जितने प्राचीन सिद्ध हैं, उतने प्राचीन शायद और किसी देश या जाति के नाटक नहीं हैं।

केवल प्राचीनता के विचार से ही नहीं, बल्कि आदर्श के विचार से भी हमारे यहाँ के नाटक सचमुच आदर्श ही होते हैं। कल्पना के विचार से कालिदास कृत शकुन्तला और उत्तम आदर्श उपस्थित करने के विचार से भवभूति कृत उत्तर-रामचरित तथा राजनीतिक दाव-पेंच आदि से संबन्ध रखनेवाले नाटकों में विशाखदत्त कृत मुद्राराक्षस आदि नाटक आदर्श नहीं तो और क्या हैं? और इसका कारण भी यही है कि हमारे देश में सभी गुणों में एक से एक बढ़कर आदर्श चरित्र हो गये हैं, जिनके अनुकरण पर हमारे यहाँ के कवि तथा नाटककार ऐसे-ऐसे काव्यों और नाटकों की रचना कर गये

हैं, जिनकी बराबरी और देशों के नाटक या काव्य नहीं कर सकते।

चंड कौशिक भी इसी प्रकार के आदर्श नाटकों में से एक है, जिसके आधार पर स्वर्गीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने उस "सत्य हरिश्चन्द्र" नाटक की रचना की थी, जिसका आदर आज तक हिन्दी जगत में बराबर बढ़ता ही जाता है। महाराज हरिश्चन्द्र की जगत्प्रसिद्धि तथा अनुपम दानशीलता के आधार पर यह "**सत्याग्रही**" नाम का नाटक भी लिखा गया है, जो अनेक दृष्टियों से नवयुवकों और विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी सिद्ध होगा। यह नाटक विद्यार्थियों और विशेषतः दक्षिण भारत के उन विद्यार्थियों के लिये लिखा गया है, जिनमें आजकल हिन्दी भाषा और साहित्य का प्रचार बहुत ज़ोरों से बढ़ रहा है। और इस दृष्टि से मैं इस नाटक का सहर्ष स्वागत तथा इसके लेखक श्रीयुत व्रजनंदन शर्मा का हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

इस नाटक में सर्वश्रेष्ठ दानवीर महाराज हरिश्चन्द्र एक सत्याग्रही के रूप में पाठकों के सामने लाये गये हैं। इस नाटक में पाठकों को कुछ विलक्षणता और नवीनता दिखलायी देगी। वह यह कि इसमें महाराज हरिश्चन्द्र के समय के भारत का चित्र उपस्थित करने के बदले बहुत कुछ आधुनिक काल के भारत तथा भारतीय ग्राम-समाज का चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया गया है। लेकिन यह बात दो दृष्टियों से क्षम्य है। एक तो इसलिये कि इसमें महाराज हरिश्चन्द्र

एक सत्याग्रही के रूप में उपस्थित किये गये हैं, और दूसरे यह कि आजकल दक्षिण भारत में इस तरह के नाटकों का इसलिये बहुत प्रचार हो रहा है कि आजकल के नवयुवक पुरानी बातों का पिष्टपेषण पसंद नहीं करते और प्रत्येक वस्तु नये रूप तथा परिच्छद में देखना चाहते हैं। यह देश और काल की रुचि का प्रश्न है, इसलिये मैं इस पर विशेष टीका-टिप्पणी नहीं करना चाहता।

दूसरी बात यह है कि इस नाटक में बहुत कुछ उस भाषा का प्रयोग किया गया है, जो आजकल "हिन्दुस्तानी" के नाम से प्रसिद्ध होना चाहती है। देश में हिन्दी का प्रचार हो या उर्दू का या हिन्दुस्तानी का, यह प्रश्न भिन्न है। प्रश्न तो यह है कि अरबी और फारसी के जो शब्द हमारी हिन्दी भाषा में आ गये हैं, उनसे भी दक्षिण भारतवालों को परिचित कराया जाय या नहीं। और यदि इस प्रश्न का उत्तर "हां" हो तो फिर यह कहने में भी मुझे कोई संकोच नहीं है कि इस नाटक की भाषा और शैली भी बहुत सुन्दर है। और मैं आशा करता हूँ कि दक्षिण भारत के हिन्दी प्रेमी विद्यार्थियों में इस नाटक का प्रचार भी यथेष्ट होगा और उनका लाभ भी अल्प न होगा।

काशी
५ अप्रेल १९३९.

रामचन्द्र वर्मा.

सूचना

कोई भी कंपनी या समुदाय इसको खेले तो उसके लिये अनुमति पहले ही प्रकाशक से ले ले।

—प्रकाशक.

एक दो बातें

इस नाटक के पाठकों के मन में दो बातें प्रधानतया आयँगी। पहली यह कि इसका कथानक पौराणिक (सनातन) और बहुत प्रचलित है; फिर भी इसे मैंने नया रूप या आधुनिक रूप दिया है। दूसरी बात यह कि हिन्दी की पुरानी शैली में ही अपने को न बाँधकर इसमें मैंने राष्ट्रभाषा या हिन्दुस्तानी की शैली बरती है। इन बातों का मेरा यों उत्तर होगा—

हमने पुराने नाटकों (पौराणिक) के पात्रों को अ-मानव या अति-मानव बनाकर उनके द्वारा होनेवाले मनुष्य-जीवन पर के असर को बहुत कम कर दिया है। उसका फल यह होता है कि पाठक या दर्शक उनके गुणों को अलौकिक मानकर स्तंभित रह जाता है, उन्हें पाने की कोशिश नहीं करता। इससे पौराणिक या उस तरह के नाटक सिर्फ़ साहित्य और कल्पना की चीज़ ही रह गये हैं। उनमें मानव जीवन को उठाने की ताकत कम हो गयी है। उस जमाने के लिये वह भले ही ठीक रहा हो, लेकिन आजकल के वैज्ञानिक या तार्किक युग के लिये यह जरूरी है कि हरएक बात जहाँ तक हो सके मनुष्य की बुद्धि की पहुँच के अन्दर कर दी जाय, ताकि वह उससे अधिक से अधिक फायदा उठा सके। इस

नाटक में उन्हीं बातों को ख्याल में रखकर मैंने यह कोशिश की है कि इसके पात्रों को आज की आवश्यकताओं और उच्चतर विचारों के अनुकूल सजाऊँ, तथा इसके कथानक को ज्यादा स्वाभाविक और वैज्ञानिक बनाऊँ। मैंने पूरी कोशिश की है कि हरिश्चन्द्र की प्रचलित कथा में विशेष परिवर्तन न हो। इसमें मुझे कहाँ तक सफलता मिली है, इसका निर्णय तो पाठक ही करेंगे। हाँ, उन सज्जनों के साथ मैं विवाद में नहीं उतरना चाहता जो मुझे इस बात का अपराधी ठहराते हों कि इस नाटक को इस रूप में लिखकर मैंने प्राचीन रूढ़ियों को तोड़ने का अपराध किया है।

फिर जहाँ तक भाषा का सवाल है, मुझे अपनी कोई सफ़ाई देने की जरूरत नहीं मालूम पड़ती। हिन्दी की अनेक शैलियाँ हैं। होनी भी चाहिये। उसके राष्ट्रभाषा बनने की योग्यताओं में यह भी एक है। उसकी राष्ट्रभाषा-वाली शैली में भारतीय जाति की ही तरह नये शब्दों को हज़म करने की ताकत भी रहनी ही चाहिये। अन्यथा वह एकांगी हो जायगी। मैं राष्ट्रभाषा का एक छोटा प्रचारक हूँ। यह पुस्तक भी राष्ट्रभाषा प्रचार करनेवाली संस्था की तरफ़ से प्रकाशित हो रही है। अतः मेरा यह धर्म भी था कि इसे सीधी-सादी राष्टभाषा में लिखता। मगर मेरा यह दावा है कि

इसमें एक भी शब्द ऐसा नहीं आया है, जिसका उपयोग हिन्दी भाषा बोलनेवाली जनता न करती हो।

कुछ सज्जनों को हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र के मुँह से कहीं-कहीं फारसी या उर्दू के शब्दों का निकलना भी अखर सकता है।—भारतीय नाटक प्रायः हिन्दुस्तान की सभी प्रान्तीय तथा कई विदेशी भाषाओं में भी अनुवादित हो चुके हैं। जब भारतीय पात्रों के मुँह से वे भाषाएँ तथा विदेशी पात्रों के मुँह से भारतीय भाषाएँ कहलायी गयी हैं और वे अस्वाभाविक नहीं लगतीं तो मेरा यह काम भी गुनाह नहीं कहला सकता। और यही कौन कह सकता है कि विश्वामित्र और हरिश्चन्द्र जो भाषा बोलते थे उसका असली रूप यह था या यह नहीं था? आखिर भाषा का रूप तो हमारे मस्तिष्क में ही रहता है। बदली हुई हालत में रहते-रहते नयी बातें भी कुछ दिन के बाद स्वाभाविक लगने लगेंगी।

नाटक लिखने की यह मेरी पहली कोशिश है। नाटक-कला (टेकनिक) का मैं कोई ज्ञाता भी नहीं हूँ। हाँ, भाषा और विचारों के प्रचार में नाटकों को ज्यादा उपयोगी समझता हूँ। इसीलिये मैं इस नाटक के लेखक के रूप में हिन्दी पाठकों के सामने आया हूँ। इस रचना की भूलों की ओर इशारा किये जाने पर मैं कृतज्ञतापूर्वक संशोधन के लिये तैयार रहूँगा।

अन्त में मुझे 'सभा' के साहित्य-मंत्री पं. अवधनन्दनजी का शुक्रिया अदा करना है जिनकी प्रेरणा न होती तो यह नाटक न लिखा जाता। पूरा लिख जाने पर मेरे बड़े भाई श्री रामानन्दजी शर्मा ने इसे सुधारा-संवारा, घटाया-बढ़ाया—। मगर उसके लिये उन्हें धन्यवाद देकर उसका महत्व कम नहीं करना चाहता।

कोयम्बत्तूर,
ता० २४-८-३९.

व्रजनन्दन.

पात्र-परिचय

पुरुष

हरिश्चन्द्र	....	अयोध्या के महाराज
विश्वामित्र	....	एक ऋषि
वसिष्ठ	....	हरिश्चन्द्र के गुरु
नक्षत्रक	....	विश्वामित्र का चेला
रोहित	....	हरिश्चन्द्र का लड़का
सुन्दर	....	एक डाकू
शिवनाथ उपाध्याय	....	काशी का पंडित, शैव्या को खरीदनेवाला
कल्लू चौधरी	....	डोम, हरिश्चन्द्र को खरीदनेवाला

इन्द्र, मंत्री, विद्यार्थी, ग्रामीण, दरबारी

स्त्री

शैव्या	....	अयोध्या की महारानी
पंडिताइन	....	शिवनाथ उपाध्याय की पत्नी

युवती, ग्रामीण औरतें

सत्याग्रही

पहला अंक

पहला दृश्य

[**समय**—शाम के चार बजे। स्थान—अयोध्या के राजमहल का भीतरी हिस्सा। बड़ा कमरा, सामने खिड़कियाँ। उनमें से हरा-भरा बगीचा दिखाई देता है। दीवार पर देवताओं के चित्र। हरिश्चन्द्र शिकारी पोशाक में अकेले इधर-उधर टहल रहे हैं। कमरबन्द में तलवार और कटार। जरी का दुपट्टा दोनों कंधों पर से पीछे की ओर लटक रहा है। काले घुंघराले बाल, खड़ी मूँछें। गोरा रंग। चेहरा भरा हुआ। उम्र करीब ३५ साल की। खिड़की से कभी-कभी बाहर देख लेते हैं।]

हरि०—ओह! धूप में चलने के बाद ही छाँह का सुख मालूम होता है। आज महल कितना प्यारा लग रहा है। रानी का अभी तक····(दरवाज़े की ओर देखकर) हाँ, आ तो रही हैं। (मुस्कुराते हैं)

(हँसते हुए महारानी शैव्या का आना)

[नीली रेशमी साड़ी, उसी रंग की पुराने ढंग की कंचुकी, दो-चार गहने। लटकता हुआ जूड़ा। जूड़े में फूल। रंग चंपई, उम्र करीब २७-२८ साल की। चेहरा हँसमुख।]

शैव्या—महाराज, आप आ गये! मगर अभी तक यह पोशाक नहीं उतारी। क्या यहाँ भी शिकार ही होगा? मगर अन्त:पुर में खूँखार जानवर तो नहीं रहते!

हरि०—क्यों? यहाँ खूँखार जानवर क्यों नहीं रहते? (हँसते हैं)—और शिकारी बराबर खूँखार जानवरों का ही तो शिकार नहीं करते। कभी-कभी क्यों, ज्यादातर निर्बल हरिनों को ही अपने तीर का निशाना बनाते हैं।

शैव्या—हाँ, तो आप लोगों से और आशा ही क्या हो सकती है? कमज़ोरों को सताना! यह काम दुनिया में सबसे आसान है।

हरि०—अच्छा, आओ। ये बातें छोड़ो। लो, मैं पहले ही से हार माने लेता हूँ। (हँसते हैं)

शैव्या—हाँ, अच्छा! मैं समझ गयी। (सकुचा जाती है) एक-एक सप्ताह तक श्रीमान् राजधानी से गायब रहते हैं और कुछ कह भी नहीं जाते।

हरि०—माफ़ करना, शैव्या! काम ही कुछ ऐसी जल्दी का आ पड़ा कि मैं खुद आकर तुमसे मिल न सका। एकाएक खबर आई कि दूर पश्चिमी हद पर दुश्मन चढ़ आये हैं और लूट मचा रहे हैं; फ़सल बरबाद कर रहे हैं; किसान तबाह हो रहे हैं। मैं भी नहीं जानता था कि इतने दिन लग जायँगे।

शैव्या—मगर मैं समझ रही थी।

हरि०—क्या?

शैव्या—यही कि, राजमहल से जी ऊब गया था। (तिरछी नज़र से देखती है)

हरि०—वाह, वाह! यह परिहास जाने दो। सुनो, —मैं एक नया स्वर्ग देख आया हूँ।

शैव्या—स्वर्ग?

हरि०—हाँ, स्वर्ग! अफ़सोस! तुमको साथ न ले गया! ओह! कैसा सुन्दर वह····

शैव्या—(बीच ही में) इसीलिये घर-द्वार की सुध भूल गये?

हरि०—भूला कहाँ? इसीलिये तो दौड़ा चला आया। नहीं तो, कैसा सरल, सीधा, सच्चा जीवन है—उन स्वर्गवासियों का! उन्हें कोई चिन्ता नहीं!—यहाँ एक फ़िक्र दूर नहीं

हुई कि दूसरी सिर पर सवार हो जाती है। उनको यह सब कुछ नहीं। चैन है, आराम है, आनंद है! उपजाते हैं, खाते हैं और सुख की नींद सोते हैं।—वे हैं हमारे देहाती किसान!

शैव्या—आप जैसे रक्षक के रहते वे सुख से क्यों न सोयें!

हरि०—यही तो एक सन्तोष है। नहीं तो कौन यह जंजाल उठाता? मैं भी किसी देहात में एक किसान बनकर रहता। बाल-बच्चों के साथ शांति से जीवन बिताता! कमाता-खाता।

शैव्या—तो फिर किसान ही बन जाइये न? कौन यह जंजाल उठाने को कहता है? (हँसती है)

हरि०—हँसी नहीं रानी, कोई यह भार सम्हालनेवाला हो तो मैं सचमुच वही पसन्द करूँगा। किसी गाँव में थोड़ी-सी ज़मीन लेकर बैठ जाऊँगा। दो-चार गायें और बैल पालूँगा। हम लोग खेतों में काम करेंगे। तन्दुरुस्त और मज़बूत रहेंगे। स्वच्छन्द विचरेंगे। न वह प्रतिष्ठा का भार और न चिन्ताओं की वह ज्वाला। गाँववालों की संगति का आनन्द लूटना। उनसे कुछ सीखना। उनको कुछ सिखाना।

शैव्या—अच्छा, कल्पना के ये महल तो बनते ही रहते हैं।—राजा किसान होना चाहता है और किसान राजा का भाग सराहते हैं।—पर महाराज, यह तो बताइये कि खाया-पिया क्या? रहे कैसे?

हरि०—खाना-पीना?—भोले-भाले किसानों की मीठी-मीठी बातों से ही पेट भर जाता था। और रहने के वास्ते तो उन्होंने अपना हृदय ही खोल रखा था। भला वे ताज़े फल और तरकारियाँ, बढ़िया दूध और दही—कभी भूल सकता हूँ? नगरों में वे सब चीजें कहाँ?

शैव्या—मगर महाराज, क्या गाँवों में सुख ही सुख है। दुःख या कमी कहीं नहीं है?—तब तो सचमुच वह स्वर्ग है।

हरि०—नहीं शैव्या, उस स्वर्ग में भी कमियाँ हैं। कमियाँ न हों तो सचमुच वे देहात स्वर्ग ही बन जायँ। ज्ञान की वह रोशनी वहाँ तक नहीं पहुँच पायी है—जिसकी वजह से अयोध्यावासी अपने को बहुत ऊँचा और नागरिक समझते हैं। शिक्षा की कमी, कहीं-कहीं दरिद्रता और अन्य छोटी-छोटी बातें उनको स्वर्ग नहीं बनने देती हैं।

शैव्या—तो फिर?

हरि०—हाँ, फिर भी वे गाँव स्वर्ग ही हैं। इतनी

कमियाँ रहते हुए भी वे स्वर्ग हैं। अब मेरी ज़िन्दगी का एक ही हौसला है—इन गाँवों को सच्चा स्वर्ग बना दूँ।

शैव्या—हाँ (कुछ सोचती है)

हरि०—मगर उसके लिये बहुत काम करना होगा। उनके जीवन में एक बार परिवर्तन हो जाय तो फिर उन्नति होते देर न लगेगी। ओह, उन लोगों की साधुता, उदारता और सज्जनता नगरों में मिलना मुश्किल है। वे बोलते हैं तो हृदय से, मिलते हैं तो दिल से। वे हँसते हैं दिल की गहराई से। उनमें दुराव नहीं, छिपाव नहीं। सीधा, सच्चा, सरल जीवन। ओह मैं—

शैव्या—आप तो इतनी तारीफ़ कर रहे हैं कि मेरा भी जी एक बार उन्हें देखने को ललचा रहा है।

हरि०—जरूर, एक बार तुम्हें ज़रूर ले चलूँगा। तुमको और कुमार रोहित को भी। कहाँ है वह? अभी तक आया नहीं?

शैव्या—आता ही होगा। मैंने दासी को लाने भेजा है।

(दौड़ते और हांपते हुए रोहिताश्व का आना। रंगीन कपड़े पहने है। माथे में पसीने की बूँदें। बाल बड़े-बड़े। कुछ मुँह पर लटकें। सुन्दर मुखड़ा। उम्र ८ या ९ वर्ष)

रोहिताश्व—(आगे की ओर हाथ फैलाये हुए) पिताजी आ-गये, पिताजी !

[हरिश्चन्द्र रोहित को गोद में उठा लेते हैं और चूमकर कलेजे से लगा लेते हैं]

रोहिताश्व—पिताजी, मेरे लिये क्या लाये ?

हरि०—तुम्हारे लिये हरिन के दो सुन्दर बच्चे लाया हूँ, रोहित! (अपने कपड़ों में मिट्टी और रोहित के शरीर में पसीना देखकर) अरे, सारी देह में मिट्टी लगा के आया है तू! पसीना भी बह रहा है! क्या कर रहा था ?

(गोद से उतर जाता है। शैव्या मुस्कुराती है।)

रोहित०—मैं राजा बनूँगा। बगीचे में काम करता हूँ। मिट्टी से खेलता हूँ! तब न राजा बनूँगा!

हरि०—अच्छा, यह सिद्धान्त किसने पढ़ाया तुझे ? किसने काम करने को कहा ?

रोहित०—(माँ की ओर इशारा करता है)

शैव्या—(हरिश्चन्द्र उसकी ओर देखते हैं। वह मुस्कुराती है) भू-पति बनेगा न ? तो पहले 'भू' से परिचय तो हो!

रोहित०—पिताजी, माँ कहती हैं कि, तुम बूढ़े हो जाओगे तो मैं राजा बनूँगा। पिताजी, तुम भी बगीचे में काम करते थे ?

हरि०—नहीं बेटा, मैं नहीं करता था।

रोहित०—तब तुम कैसे राजा बने?

(हरिश्चन्द्र चुप रह जाते हैं।)

शैव्या—इसीलिये तो ये अच्छे राजा नहीं बने। तुम अच्छे राजा बनोगे!

रोहित०—हाँ तुम बुरे राजा हो। हमको छोड़कर चले जाते हो। मैं अच्छा राजा बनूँगा। माँ को छोड़कर कभी नहीं जाऊँगा। पिताजी, हरिन के बच्चे कहाँ हैं?

हरि०—हरिन बुधुआ ने बाँध रखे हैं।

रोहित०—बाबूजी, बुधुआ का बेटा कहता है कि वह भी राजा बनेगा। वह फुलवारी में काम करता है। पिताजी, राजा कौन बनेगा? मैं या वह?

(हरिश्चन्द्र फिर चुप)

शैव्या—जो ज्यादा मन से काम करेगा—वह।

रोहित०—तब तो मैं ही बनूँगा रा—जा—(दरवाज़े की ओर दौड़ता हुआ) मैं हरिन का बच्चा लेने जाता हूँ। (चला जाता है।)

(हरिश्चन्द्र थोड़ी देर चुप रहते हैं। शैव्या उनके मुँह की ओर देखती रहती है। मानों कुछ पढ़ रही हो।)

शैव्या—क्या सोच रहे हैं महाराज? यही न कि राजा का बेटा कुदाल लेकर बगीचे में कैसे काम करेगा?

हरि०—नहीं, मैं सोच रहा हूँ कि मैं सचमुच प्रजा की, इन गावों में रहनेवालों की, अधिक सेवा कर सकता, अगर मेरी माता भी मुझे यह सब सिखातीं। सचमुच राजा जब तक ज़मीन और उपज की हालत न जाने तब तक प्रजा को सतानेवाला ही बनेगा—सुख देनेवाला नहीं। मुझे बड़ी खुशी हो रही है कि तुम उसको राजा बनने के साथ—

शैव्या—उतना ही नहीं। कौन जाने दानी बाप का बेटा राजा ही बनेगा, रंक नहीं।

हरि०—(चौंकते हैं) तो क्या तुम मुझे कुछ अनुचित खर्च करते देख रही हो?

शैव्या—अनुचित नहीं महाराज! यह सम्पत्ति आप भले कार्यों में लगा रहे हैं। लेकिन मैं रोहित को सब तरह की परिस्थितियों के लिये तैयार करना चाहती हूँ। राजा तो वह पीछे बनेगा। पहले वह आदमी तो बन ले।

हरि०—ठीक है। अच्छा चलो, उधर बगीचे में टहलेंगे भी। तुमको गाँवों की बहुत-सी बातें बतानी हैं।

शैव्या—ठीक है, चलिये।

(दोनों का जाना)

दूसरा दृश्य

[**समय**—तीसरा पहर । **स्थान**—जंगल । विश्वामित्र ऋषि का आश्रम । फूस के चार-पाँच झोंपड़े । लताओं और वृक्षों से घिरा हुआ आश्रम बहुत खूबसूरत दिखाई पड़ता है । कहीं-कहीं पेड़ और बेलें टूटी तथा मुरझायी हैं । यज्ञशाला में कुछ बालक ज़ोर-ज़ोर से वाद-विवाद कर रहे हैं । कुश की छोटी-छोटी चटाइयाँ बिछी हैं । सब गेरुआ वस्त्र पहने हैं ।]

एक—यह अध्यात्म विद्या नहीं, पेट की विद्या है । हाथ-पैर को सुखाओ और पेट और सिर को बढ़ाओ । करो-धरो कुछ नहीं, सिर्फ खाओ और रटो श्लोक । वाह री ब्राह्मण जाति ! कैसा सुन्दर आराम का रास्ता खोज निकाला है । हमारे गुरुजी भी जब से ब्राह्मण हुए हैं, उनकी खोपड़ी उलट गयी है । और अब हमारी खोपड़ी भी उलटने जा रहे हैं ।

दूसरा—नक्षत्रक ! ब्राह्मणों की बेइज्ज़ती ! कृतघ्न !

नक्षत्रक—चुप रहो मधुकर ! नहीं तो अभी गला दबा दूँगा ।

मधुकर—बड़े बहादुर बने हो । तो उन सवारों का गला क्यों नहीं दबाया ? वहाँ तो होश ही उड़ गये थे । यहाँ आये हैं.....

नक्षत्रक—अरे अक्ल के दुश्मन ! वही तो कह रहा हूँ कि गुरुजी हमारी खोपड़ी भी औंधी बनाते जा रहे हैं ।—दौड़ो मत, हँसो मत, दण्ड-बैठक मत करो । बस, रोज़ हज़ार बार करो गायत्री का जाप और संहिता का परायण । बापरे बाप ! यह सब पढ़के क्या होगा ? अगर....

तीसरा—अगर आपके हाथ में तीर-कमान होती तो आप वहीं हरिश्चन्द्र महाराज के सवारों को सुला देते ? यही न ? भई, असल क्षत्री !

मधुकर—क्षत्री या छतरी ?

(सब ज़ोर से हँस पड़ते हैं)

नक्षत्रक—(गुस्से से) चुप रहो काठ के उल्लुओ ! आये क्यों नहीं उस समय ? गायत्री मंत्र से भस्म क्यों नहीं कर डाला सबों को ? बड़े ब्राह्मण बने हो !

मधुकर—सुनते जाते हो न भाइयो? गवाह रहना। ये ब्राह्मणों का अपमान कर रहे हैं। सारे शरीर में कोढ़ न फूटे तो कहना! आने दो गुरुजी को।

नक्षत्रक—बस कहा न? बेवकूफ़ों को डरानेवाला शाप। मधुकरजी, जाकर किसी देहाती घामड़ से कहिये कि सारे बदन में कोढ़ फूट जायगा, तो वह पैर पर गिरेगा और पूजा चढ़ायेगा। यहाँ क्षत्री के लड़के हैं। पेट्टू ब्राह्मणों से नहीं डरते।

चौथा—देखोजी, तुम बढ़-बढ़ के बातें कर रहे हो। क्या तुम्हारी नज़रों में ब्राह्मण जाति और अध्यात्म-विद्या इतनी हलकी जँचती है?

नक्षत्रक—तुम लोग इस तरह अक्ल के पीछे लाठी लेकर मत घूमा करो। जिसे तुम विद्या कहते हो वह ब्रह्म-विद्या नहीं, भीख माँगने की विद्या है। ब्रह्म-विद्या शाप देना नहीं सिखाती, वह क्षमा करना सिखाती है। वह डराकर गरीब देहातियों को लूटना नहीं सिखाती, बल्कि दूसरों के वास्ते जान देना सिखाती है। शाप तो कमज़ोरों की विद्या है।

पाँचवां—और मज़बूतों की विद्या कौन-सी है?

नक्षत्रक—वह विद्या राजा हरिश्चन्द्र के पास है। क्या कर सके हम उन सिपाहियों का?—इस तरह तो सारा देश

भिखमंगा बन जायगा। ओह! पौरुष नहीं, बल नहीं, शरीर नहीं, बस, रह गयी सस्ती आध्यात्मिकता। सिपाही को देखा और यज्ञशाला में जा घुसे, और ऊपर से यह ढोंग। एक बार गुरुजी की लाल आँख देखते हैं तो छठी का दूध याद आ जाता है। कायर—

मधुकर—इस मूर्ख से बोलना बेकार है। आने दो गुरुजी को।

नक्षत्रक—दादा के भरोसे फ़ौज़दारी—

तीसरा—लेकिन, नक्षत्रकजी, फिर भी आप छत्री हैं। अध्यात्म-ज्ञान के महत्त्व को—जिससे भारत का नाम संसार में ऊँचा है और आगे भी रहेगा—नहीं समझ सकते।

नक्षत्रक—मैं कहाँ तक समझाऊँ? तुम लोगों के दिमाग़ में तो गोबर भरा है। अरे भाई, देख लेना इसी के कारण भारत का सत्यानाश भी होगा। पहले इस दुनिया के दुश्मनों से तो लड़ने की ताकत पैदा करो; परलोक के दुश्मन तो बाद को आयेंगे। पहले खूब खाओ, मज़बूत बनो। अभी नाक-कान मूँदने का वक्त कहाँ आया है? पहले उस विद्या के लायक पात्र तो बन लो। कमज़ोर देह में मज़बूत आत्मा नहीं रह सकती। भौतिक विद्या में पंडित होने के बाद ही कोई उस विद्या का विशारद बन सकता है—यों नहीं—पर, तुम तो.....

चौथा—अच्छा, नक्षत्रकजी, अपनी बातें बन्द कीजिये। शान्त होइये। गुरुजी के आने का समय भी हो चला है।

नक्षत्रक—अरे, मैं तो शांत ही हूँ। उत्तेजित होने की ताकत भी तो हो।—और हाँ, गुरुजी भी अब आयेंगे और शापों की झड़ी लगायेंगे। लेकिन इस बार मामला कुछ संगीन है। बड़ों से पाला पड़ा है। गुरुजी भी कुछ सोच-विचारकर ही काम करेंगे। यों ही शाप.....

(विश्वामित्र दूर पर आते हुए दिखाई पड़ते हैं। सब लड़के घबड़ाकर अपनी-अपनी जगह बैठ जाते हैं और झूठ-मूठ सिर हिला-हिला कर पढ़ने का नाट्य करते हैं। नक्षत्रक ज्यों का त्यों खड़ा रहता है। हाथ में कमण्डल और रुद्राक्ष की माला लिये, खड़ाऊँ पहने विश्वामित्र मुनि का प्रवेश। क्रोध से आँखें लाल हैं। श्यामल रंग। आते ही सब खड़े हो जाते हैं और प्रणाम करते हैं)

विश्वा०—अरे चाण्डालो, आश्रम का इस तरह सत्यानाश! किसके सिर मौत नाच रही है? (कोई कुछ नहीं बोलता है) अरे मिट्टी की मूरतो, बोलते क्यों नहीं! किसकी करतूत है?

मधुकर—(डरते-डरते) गुरुजी, मैं····ने····न····

विश्वा०—अरे, मैं पूछता हूँ कि यह किस चाण्डाल की करतूत है—मैं अभी उसे भस्म करके छोड़ूँ।

नक्षत्रक—गुरुजी, राजा हरिश्चन्द्र के कुछ घुड़-सवार—

विश्वा०—तो वे आश्रम का सत्यानाश करके चले गये और तुम लोग देखते रहे?

मधुकर—मैंने नक्षत्रकजी से—

विश्वा०—तुम लोग किसी काम के नहीं हो। अभागे—हाँ, हरिश्चन्द्र को अपने दान और सत्य का बड़ा घमण्ड हो गया है। उसकी आँखें सिर पर चढ़ गई हैं। उसको विश्वामित्र जैसे तपस्वियों की परवाह क्या है? मगर—

नक्षत्रक—मगर उनके साथ हरिश्चन्द्र महाराज नहीं थे। वे उन्हीं को खोजते हुए—

विश्वा०—मैं समझ गया। इस दुष्टता के पीछे किसका हाथ है—मैं साफ़-साफ़ देख रहा हूँ।—वसिष्ठ! तुम भी बढ़े हो? अच्छा····

मधुकर—गुरुदेव, नक्षत्रकजी ब्राह्म—

विश्वा—अच्छा, मैं इसका उपाय करूँगा। ओह, इस तरह आश्रमों का विध्वंस। मेरा मन अशान्त हो रहा है। मैं कुटी में विश्राम करने जाता हूँ। (जाते जाते) मधुकर, एक घड़ा जल तो लाना। (प्रस्थान)

(सब कुछ देर चुप रहते हैं)

नक्षत्रक—आपका मन शांत ही कब रहता है? अब जाइये न मधुकरजी! यहाँ तो कहने की हिम्मत न पड़ी। अब

वहाँ जाकर चुगली खाइयेगा कि नक्षत्रकजी ब्राह्मणों को ऐसा-वैसा कहते हैं। इसी विद्या का तो आप खूब अभ्यास कर रहे हैं। जाइये—

(मधुकर क्रोध से देखता हुआ चला जाता है।)

दूसरा—आज सचमुच गुरुजी गुस्से को पी गये!

नक्षत्रक—दूसरा चारा ही क्या था? महाराज हरिश्चन्द्र हमारे तुम्हारे जैसे मामूली आदमी होते तो न जाने कब के शाप से जलकर भस्म हो गये होते। मैंने तो पहले ही कहा था कि ब्रह्म-बल भी आदमी को देखकर ही आगे बढ़ता है। गुरुजी जरूर कुछ दूसरा उपाय सोचेंगे। वे हरिश्चन्द्र महाराज को यों छोड़नेवाले नहीं।

तीसरा—मगर, इसमें बेचारे महाराज का क्या कसूर?

चौथा—यह कौन देखता है? यही तो क्रोध में खराबी है।

नक्षत्रक—और इसमें वसिष्ठ भी सन गये। गेहूँ के साथ घुन भी। अच्छा चलिये, अब संहिता रटिये। नहीं तो कल डंडों से पूजा तो होगी ही। (प्रस्थान)

(धीरे-धीरे सब चले जाते हैं।)

तीसरा दृश्य

[समय—सवेरे आठ बजे। स्थान—अयोध्या का दरबार। हरिश्चन्द्र महाराजाओं की पोशाक पहने ऊँचे सिंहासन पर बैठे हैं। बायीं ओर मंत्री और सेनापति बैठे हैं। दाहिनी ओर एक आसन खाली है और कुछ दरबारी बैठे हैं।]

हरि०—हाँ, सो तुम्हारा कहना ठीक है। मगर उसी को तो रोकना है।

मंत्री—पर, यह कठिन काम है।

हरि०—कठिन ही है न? असम्भव तो नहीं है?—मगर देखो, जिन देहातियों के पसीने पर ये नगर बसे हैं; उन्हीं को हम भूले रहें, उन अन्नदाताओं की हम उपेक्षा करें।—यह कैसे हो सकता है? मेरी आत्मा इसे कबूल नहीं करती।

मंत्री—महाराज, मैं यह नहीं कहता। मगर, गाँव के रहनेवाले सब दिन से ऐसे ही रहते आये हैं, और—

हरि०—और तुम चाहते हो कि आगे भी वैसे ही रहें? यही न?

पहला दरबारी—नहीं महाराज, उनका सुधार असंभव मालूम पड़ता है।

हरि०—क्योंकि आप बड़े नगरों में रहते हैं। बहुत ऊँचे महलों से देखते हैं, इसीलिये वे और भी छोटे दिखाई पड़ते हैं। उन लोगों के पास खड़े होकर देखिये तो वे उतने छोटे नजर न आयेंगे।—मेरे खयाल में तो उनका सुधार बहुत ही सहज है।

तीसरा दरबारी—ठीक कहते हैं, महाराज। पहले के राजाओं ने इधर ध्यान नहीं दिया। नहीं तो, आज गाँवों की यह हालत न होती।

हरि०—लेकिन, मैं सारा खजाना, सारी ताकत और समय लगाकर वह काम करना चाहता हूँ। आप सब लोग मेरे इस काम में मदद कीजिये। मैं चाहता हूँ कि कुछ ही सालों के अन्दर गाँव और गाँव के लोग, नगरों और नगरों के लोगों से किसी बात में पीछे न रहें।

मंत्री—महाराज, मगर—

हरि०—नहीं, पहले मेरी बात सुन लो। इसमें अगर-मगर कुछ भी नहीं है। प्रेम और विश्वास के साथ उनसे जो कहो, वे करने को तैयार रहेंगे। उन्हें प्रेम चाहिये। वे प्रेम के भूखे हैं। मैं उन्हें अभी-अभी देख आया हूँ। वे पिछड़े हुए हैं—क्योंकि बहुत दिनों से हमने उनसे बराबर लिया ही है—कुछ दिया नहीं है। अब हमें देना पड़ेगा। फिर देखोगे कि उनकी उन्नति कितनी जल्द होती है।—हाँ, इस काम में हम नगर के रहनेवालों के चैन व आराम में कुछ खलल जरूर पड़ेगा।

दूसरा दरबारी—महाराज—

हरि०—सुनो, मैंने इस बारे में बहुत-सी बातें सोच रक्खी हैं। उनकी तकलीफ़ें देख आया हूँ। जैसा उनका दिल है वैसा ही यदि दिमाग भी बना दिया जाय तो फिर हमारा देश स्वर्ग हो जायगा।

मंत्री—मगर, महाराज, इन कामों में खर्च—

हरि०—बहुत होगा, मैं मानता हूँ।—खज़ाना खाली हो जायगा, कोई हर्ज नहीं। राजा के आराम के वास्ते पैसे न रहेंगे; परवाह नहीं। ये हीरा जड़े आभूषण और सिंहासन बेच डालने पड़ेंगे; ठीक है।—मगर वे करोड़ों दिल तो हरिश्चन्द्र को आसीस देंगे! वही मेरा सच्चा सुख और आराम होगा। उनके दिल का राज्य ही मेरा सच्चा राज्य

होगा—अगर उनको बनाने के लिये मुझे फकीर भी बनना पड़े तो कोई हर्ज नहीं।

(दरबान का प्रवेश)

दरबान—(सिर झुकाकर) महाराज, फाटक पर कुछ देहाती लोग आये हैं। जबर्दस्ती अन्दर घुसना चाहते हैं। रोकने पर भी नहीं रुकते।

हरि०—उन्हें आने दो। उनको तुम क्या, मैं भी नहीं रोक सकता।

(दरबान का प्रस्थान। आठ-दस देहातियों का प्रवेश)

सब—महाराज की जय हो।

हरि०—कहो, भाइयो, किसलिये अपना काम-धंधा छोड़कर यहाँ आये हो?

(कई लोग साथ ही बोलने की कोशिश करते हैं; शोर मच जाता है।)

हरि०—देखो, इस तरह नहीं। एक-एक करके बोलो। मैं सब लोगों की बात सुनूँगा।

एक—(आगे बढ़कर) महाराज, इस साल बाढ़ से सब फसल खराब हो गयी। घर-द्वार गिर गये। कुछ काम-धन्धा नहीं रहा। हम लगान नहीं दे सकते।

हरि०—मगर लगान तुमसे माँगता ही कौन है? इस हालत में भला तुम राजकर कैसे दे सकते हो?

दूसरा आदमी—परन्तु महाराज, लगान उगाहनेवाले सिपाही लोग आकर जबर्दस्ती कर रहे हैं। घर के बर्तन-बासन और गाय-बैल ले जा रहे हैं।

हरि०—(एकाएक जोश में आकर) मंत्री, मैं यह क्या सुन रहा हूँ? क्या यही व्यवस्था तुम इतने दिनों से चला रहे हो?

मंत्री—महाराज, ठीक कहा नहीं जा सकता। अभी तक हमें विश्वस्त रूप से मालूम नहीं हुआ है।

हरि०—विश्वस्त रूप से? मतलब? किसी राजकर्मचारी ने आकर नहीं कहा है—यही न? तो क्या ये विश्वस्त रूप से नहीं कह रहे हैं? क्या आँख-कान रहते हुए भी हम तनख्वाह पानेवाले किसी राजकर्मचारी के दस्तखत के बिना सच्ची बातों पर भी विश्वास नहीं कर सकते? यह कैसी नीति है? नहीं। अभी इसका इन्तजाम करना होगा।—प्रजाओ, तुमसे कोई मालगुजारी न माँगेगा। जिनका घर गिर गया है, उन्हें घर बनाने के वास्ते खजाने से धन दिया जायगा। जब्त माल लौटा दिये जायंगे। और जिस मदद की जरूरत होगी, दी जायगी।

प्रजा—महाराज हरिश्चन्द्र की जय हो।

हरि०—नहीं, अभी नहीं। अभी महाराज हरिश्चन्द्र की जय कहने की जरूरत नहीं। अभी वह उस लायक नहीं हुआ है। अच्छा, तुम लोगों को और कुछ कहना है?

तीसरा—महाराज, हमारे गाँव में पानी की बड़ी दिक्कत है। गर्मी के दिनों में कई कोस से पानी लाना पड़ता है। सरकार—

हरि०—अच्छा, मंत्री, देखो, इस गाँव में—इसी गाँव में क्यों?—जिन-जिन गाँवों में पानी की तकलीफ़ हो—वहाँ-वहाँ राजकोश से खर्च करके और गाँव के लोगों से शारीरिक मदद लेकर तालाब और कुएँ खुदवाये जायँ। अच्छा, भाइयो जाओ। अब तुम्हारा राजा सोया नहीं रहेगा। तुमको शिकायत करने का मौका न मिलेगा।—जाओ।

चौथा०—महाराज—(रुक जाता है)

हरि०—कहो, क्या है? रुक क्यों गये? कहो।

चौथा०—महाराज, लड़की की शादी है और घर में—

हरि०—मैं समझ गया, तुम खजांची के पास जाकर जरूरत भर को रुपये ले लो। (मंत्री से) मुहर लगाकर एक रुक्का दे दो।

(मंत्री कागज देता है। लोग 'जय महाराज हरिश्चन्द्र की जय' कहते हुए चले जाते हैं।)

हरि०—सेनापति, इस 'जय' में जो ताकत और उल्लास है, वह वेतन पानेवाली तुम्हारी सेना के जय-जयकार में नहीं है। (दूर देखते रह जाते हैं।)

दरबान—(प्रवेश कर) महाराज, गुरुदेव आ रहे हैं।

हरि०—(चौंककर) गुरुदेव! शीघ्र लिवा लाओ।

(दरबान चला जाता है।)

(वसिष्ठ मुनि का प्रवेश। सफेद दाढ़ी और सिर के बाल। रंग गोरा। एक हाथ में कमण्डल। शान्त, सौम्य चेहरा। खड़ाऊँ पहने। सब लोग उठकर खड़े हो जाते हैं। हरिश्चन्द्र भी नमस्कार करते हैं और बगलवाले खाली आसन पर बैठाते हैं।)

वसिष्ठ—महाराज, कुशल तो है! राज्य में शांति विराज रही है न?

हरि०—हाँ, शांति ही है।

वसिष्ठ—'शांति ही है'—का मतलब?

हरि०—मतलब, जीवित शांति नहीं है। मुर्दों की खामोशी है।

वसिष्ठ—महाराज कुछ उद्विग्न से मालूम पड़ रहे हैं। बात क्या है? द्वार पर अभी कुछ किसान मिले थे। महाराज की जय मना रहे थे। फिर—

हरि०—गुरुदेव! क्योंकि वे मनुष्य के रूप में देवता हैं; दो-चार मीठी बातों से ही उनका पेट भर जाता है—इसलिये जय मना रहे थे; नहीं तो उन्हें सर्वनाश मनाना चाहिये था।

वसिष्ठ—बात क्या है?

हरि०—नहीं गुरुदेव, नगर के महलों में रहकर दूर देहात की प्रजा का रक्षक बनना ढोंग-सा मालूम पड़ता है। ये नगर और ये राजमहल—

वसिष्ठ—मगर, महाराज जहाँ रहेंगे—वहीं राजमहल और नगर बन जायगा। आखिर अयोध्या भी तो पहले इतनी बड़ी नगरी नहीं थी। जब से महाराज के पुरखाओं ने इसे राजधानी बनाया—तभी से इसे यह रूप मिला।

हरि०—सो ठीक कह रहे हैं, ऋषिवर! इसीलिये मेरी इच्छा हो रही है कि यह नगर और यह राज्य आप जैसे किसी महात्मा को देकर—उन देहाती किसानों का साथी बनकर रहूँ और उनकी सच्ची सेवा करूँ।

वसिष्ठ—परन्तु महाराज भूल कर रहे हैं। जनता को ठीक रास्ते पर चलाने के लिये कुछ ताकत और शासन की भी जरूरत पड़ती है। वही राजाओं के हिस्से में है। और आप जो करना चाहते हैं—वह काम हमारे जैसों का है।

हरि०—गुरुदेव का कहना ठीक है। मगर वैसा हो नहीं रहा है। आपके कहने के मुताबिक आज कितने त्यागी जनता की सेवा में जान लड़ा रहे हैं? देहात के लोग अज्ञान में डूबे हैं। उन्हें ज्ञान देनेवाला आप जैसे दो-चार को छोड़कर—

वसिष्ट—ठीक है, महाराज, हमें वैसे ही लोगों की संख्या बढ़ानी है।

हरि०—इसलिये मैं उस काम में पहला आदमी बनना चाहता हूँ।

वसिष्ट—राजन्, अभी आप प्रजा की तकलीफ़ों की कहानी सुनकर उत्तेजित हो गये हैं।—शांत होइये। इस विषय में फिर बातें होंगी।

हरि०—नहीं, वैसी बात नहीं है, गुरुदेव। फिर भी जैसी आपकी आज्ञा।

चौथा दृश्य

(इन्द्र का दरबार। इन्द्र सिंहासन पर बैठे हैं। वरुण कुबेर आदि एक तरफ और वसिष्ठ एक तरफ बैठे हैं।)

वसिष्ठ—क्यों, इसमें देवराज को आश्चर्य क्या हो रहा है ?

इन्द्र—नहीं ऋषिवर, इतना दानी और सत्य बोलने-वाला राजा कैसे निभ रहा है ? मुझे तो सचमुच अचरज हो रहा है।

वसिष्ठ—आप भूलते हैं। जिसकी राज-व्यवस्था ठीक है; प्रजा सुखी है; राजा प्रजा का सेवक बनके रहता है, उसके लिये कुछ कठिन नहीं। वह जितना भी दान करे, राजकोश खाली न होगा। आखिर दान लेनेवाले आयेंगे कहाँ से ?

इन्द्र—सो कैसे ?

वसिष्ठ—कैसे ? महाराज, नदियाँ बारहों महीने बहती रहती हैं—समुद्र को पानी देती रहती हैं—क्योंकि पहाड़ों का खजाना कभी खाली नहीं होता। हाँ, आपकी कृपा न हो तो दिक्कत ज़रूर होगी। इस बार हरिश्चन्द्र के राज्य में भी बाढ़ के कारण कुछ तकलीफ़ जरूर हुई थी।

इन्द्र—तब तो महाराज हरिश्चन्द्र मुझे कोसने लगे होंगे !

वसिष्ठ—नहीं, देवराज, कोसना तो कायरों का काम है। जो विपत्ति आ गयी, उसका बहादुरी से मुकाबला करना हरिश्चन्द्र ने सीखा है। उन्होंने बाढ़-पीड़ित लोगों की तुरत सब तरह से मदद की। अब कहीं कोई शिकायत नहीं है।

इन्द्र—मुनिवर, आपकी बातों का मुझे पूरा विश्वास है। फिर भी मन नहीं मानता कि राजकाज सम्हालनेवाला तथा नाना प्रकार की झंझटों को सुलझानेवाला ऐसे कठोर सत्य और दान के व्रत का कैसे पालन करता होगा। समझ में नहीं आता।

वसिष्ठ—क्यों महाराज ?

इन्द्र—मेरा अपना अनुभव ही लाचार करता है।

राजनैतिक मामलों में सत्य-व्रत का पालन करना असम्भव है। राजनीति में वह चल ही नहीं सकता।

वसिष्ठ—महाराज, आप राजनीति को बदनाम न करें। जो झूठ बोलने को लाचार करती हो वह सच्ची राजनीति नहीं है। राजा राजनीति के लिये झूठ बोलने को लाचार नहीं होता; बल्कि अपने स्वार्थ के लिये। किसी तरह अपना अधिकार या राज्य बचाने के लिये। वह राजनीति नहीं है।

इन्द्र—तो क्या महाराज हरिश्चन्द्र को अपने अधिकार और राज्य का मोह नहीं है?

वसिष्ठ—नहीं, जरा भी नहीं।

इन्द्र—असंभव।

वसिष्ठ—आपको असंभव या झूठ मालूम पड़ सकता है—पर है यह सच।

इन्द्र—मगर—

(दरबान का प्रवेश)

दरबान—महाराज, विश्वामित्र मुनि आना चाहते हैं।

इन्द्र—आदर-सहित लिवा लाओ।

(दरबान जाता है)

इन्द्र—हाँ तो ऋषिवर, मुझे हरिश्चन्द्र महाराज के

....(विश्वामित्र का प्रवेश। सब उठकर नमस्कार प्रणाम करते हैं। विश्वामित्र वसिष्ठ की ओर देखते हुए आसन पर बैठते हैं।)

विश्वा०—कहिये महाराज, क्या चर्चा हो रही है?

इन्द्र—(मुस्कुराते हुए) आप ही के महाराज हरिश्चन्द्र की चर्चा हो रही है। मुनिवर कह रहे हैं कि वे बड़े ही सत्यव्रती, दानी और प्रजा-सेवक हैं।

विश्वा०—क्यों नहीं, जब वसिष्ठ मुनि कह रहे हैं तो दूसरा कोई नहीं कैसे कर सकता है!

इन्द्र—मुझे तो यह कुछ—

विश्वा०—देवराज, कहना बहुत आसान है, लेकिन—

वसिष्ठ—और दूसरों की हँसी उड़ाना उससे भी आसान है।

विश्वा०—वसिष्ठजी, मेरा मुँह न खुलवाइये, ये सब बातें आप देवराज को ही सुनाइये। वे शायद विश्वास कर लेंगे। लेकिन मैं तो आपको और हरिश्चन्द्र को भी खूब जानता हूँ। वे कैसी प्रजा-सेवा करते हैं, कैसे दानी और सत्यवादी हैं—यह मैं जानता हूँ। मैं राजगुरु भले ही न होऊँ, मगर अन्धा नहीं हूँ।

वसिष्ठ—ऋषिवर, आप इतना बिगड़ क्यों रहे हैं?

विश्वा०—पूछते हो, क्यों बिगड़ रहा हूँ ? बिगड़ रहा हूँ, श्रेष्ठ ब्राह्मणों का खुशामदी स्वभाव देखकर। वाह, क्या तारीफ़ों का पुल बाँधा है आपने ! इतना वक्त आप ज्ञान-ध्यान में लगावें तो कुछ फायदा भी हो।—व्यर्थ क्यों झूठ-मूठ की बातों का प्रचार कर रहे हैं !

वसिष्ठ—राजर्षि आपको इस तरह बोलना शोभा नहीं देता। आप जरा—

विश्वा०—जी, आपकी तरह मैं मीठी बोली बोलना नहीं जानता और न भीतर खुला खंजर रखना जानता हूँ।

वसिष्ठ—(कुछ देर चुप रहकर) देवराज, आप मुस्कुरा रहे हैं !—खैर, अब मैं यहाँ से जाना ही उचित समझता हूँ। मगर विश्वामित्रजी, आप जैसा समझें, समझने के लिये आज़ाद हैं; आपको रोक ही कौन सकता है ! मगर, बिना जाने-समझे इस तरह बोलना आपको शोभा नहीं देता। आप इन बातों को चाहें तो महाराज हरिश्चन्द्र से साक्षात् कर देख सकते हैं। (खड़े होकर) अच्छा चलता हूँ। यहाँ रहने से बेकार आपका गुस्सा बढ़ेगा। देवराज—

इन्द्र—जैसी आपकी इच्छा।

वसिष्ठ—(जाते-जाते) मेरी ही इच्छा नहीं, आपकी भी यही इच्छा है। लेकिन देवराज—नहीं। (प्रस्थान)

(कुछ देर सब चुप)

इन्द्र—ओह, लोग इसी तरह किसी को ऊपर उठाने के वास्ते झूठ-मूठ प्रचार करते फिरते हैं। वसिष्ठजी किस तरह बिगड़े !

विश्वा०—सच्ची बात कड़वी होती है न ?

इन्द्र—ऋषिवर, तो क्या ये वसिष्ठजी झूठ ही कह रहे थे ?

विश्वा०—बिलकुल, सफेद झूठ।

इन्द्र—मगर वसिष्ठजी झूठ बोलेंगे, इस पर—

विश्वा०—विश्वास नहीं होता ! हाँ, वे बड़े ऋषि हैं। उनकी बात पर आप अविश्वास कैसे करेंगे ?

इन्द्र—सो नहीं, फिर भी—। और वे तो कहते थे कि महाराज हरिश्चन्द्र को अपने राज्य का जरा भी मोह नहीं है। वे फटे चीथड़े की तरह उसे छोड़ सकते हैं।

विश्वा०—बस करो, महाराज। यह असत्य-कथा मैं अधिक नहीं सुनना चाहता।

इन्द्र—मैं भी यही सोच रहा था कि इस तरह का त्याग तो लाखों करोड़ों में आप जैसे एक-आध आदमी में ही होता है, जो राज-पाट पर लात मारकर तपस्या और त्याग का जीवन बिताते हैं। भला हरिश्चन्द्र आपकी बराबरी कहाँ से कर सकता है ?

विश्वा०—महाराज, मेरी प्रशंसा न करो। मगर मैं देखता हूँ कि यह बड़ा ढोंग फैल रहा है। इसका भंडा-फोड़ होना ही चाहिये।

इन्द्र—हाँ, ऋषिवर, इसकी जाँच हो जाय।

विश्वा०—हाँ, मैं अब उसी काम में लगूँगा। हरिश्चन्द्र के सत्य और दानशीलता की जाँच करके संसार को सच्ची बात बता दूँगा।—वसिष्ठ की बातों में कितना सार है, यह भी मालूम हो जायगा। ओह! ढोंग, खुशामद—। अच्छा मैं अब चलता हूँ।

इन्द्र—यह काम आप जैसे महानुभावों से ही हो सकता है। (विश्वामित्र का प्रस्थान)

इन्द्र—अब तो तमाशा देखना मेरा काम है। चलूँ। द्वारपाल!

पाँचवाँ दृश्य

[**समय**—सवेरे आठ बजे। **स्थान**—हरिश्चन्द्र का दरबार। मंत्री, खजांची, सेनापति एक तरफ़ बैठे हैं। दूसरी तरफ़ दरबारी लोग बैठे हैं, बीच में महाराज हरिश्चन्द्र ऊँचे सिंहासन पर]

मंत्री—मगर, महाराज आप सपने की बात को सच मानने को क्यों तैयार हो गये हैं?

हरि०—लेकिन सपना भी तो हृदय का ही चित्र है। क्या यह बात गलत है?

दरबारी—नहीं महाराज, मगर.....

हरि०—मगर क्या?—सपने में अगर हम कोई अच्छा काम करने का इरादा करें तो उसे जागने पर पूर क्यों न करें? मैं समझता हूँ—सपने भी अन्तःकरण

के इशारे पर ही आते हैं। फिर स्वप्न में और जागरण में इतना भेद क्यों? सपने में दिया गया दान जागने पर क्यों न दिया जाय?

मंत्री—महाराज, तब तो यदि धोखे में किसी के मुँह से कुछ निकल जाय तो उसे भी सत्य मान लेना पड़ेगा। पागलों की बकवाद भी सत्य में गिनी जाने लगेगी।

हरि०—नहीं, न तो मैं पागल हो गया हूँ—न धोखे.....

मंत्री—मेरा मतलब.....

हरि०—सुनो। और धोखे से भी यह बात मेरे मुँह से नहीं निकली है। स्वप्न में भी इस दान पर बहुत खुश था। और जागने पर भी। बल्कि मेरा मन उतावला हो रहा है कि मैं उस सपने को सच कर दिखाऊँ। और खुद देहाती बनकर देहातियों की सेवा करूँ।

दूसरा दरबारी—मगर महाराज प्रजा आपको यों न छोड़ेगी। महाराज ने राज्य में जो सुधार के वास्ते कार्य-क्रम बनाया है वह अधूरा ही रह जायगा।

हरि०—भूल करते हो। प्रजा मुझे इसलिये चाहती है कि अच्छा या बुरा, राजा मैं ही हूँ। अगर उसको यह विश्वास हो कि बुरा राजा बदला जा सकता है, तो वह मेरे

ऐबों को भी खोजने लगेगी और मुझ से अच्छे राजा भी मिल जायेंगे ।

दूसरा दरबारी—नहीं महाराज, प्रजा वैसा नहीं—

हरि०—मैं भी प्रजा को कुछ-कुछ जानता हूँ । सुनो । तुमने सुधार कार्य का भी ज़िक्र किया है सो, हमसे भी अटल कार्य-क्रम उस 'काल' का है । उसे कौन बदल सकता है ? फिर इस जगह पर जो रहेगा, वह अपने कार्य का अलग क्रम बना लेगा ? मैं जहाँ रहूँगा, अपना कर्तव्य सोच लूँगा । किसी खास कार्य के प्रति इतना मोह क्यों ?

मंत्री—फिर भी एक बार और—

हरि०—अब फिर भी नहीं; अभी आज का जो कार्य है उसे पूरा करो ।

मंत्री—आज गाँवों में शिक्षा-प्रचार के प्रबंध पर विचार करना है । उस दिन यह अधूरा रह गया था ।

पहला दरबारी—महाराज, शिक्षा-प्रचार का भार हमेशा से ब्राह्मणों पर रहा है । अब भी हमें उन्हीं पर निर्भर रहना चाहिये । उनके काम में हमारा हस्तक्षेप ठीक नहीं होगा ।

हरि०—ठीक है । मैं उनके काम में दखल देने नहीं जा रहा हूँ । मुझे मालूम है कि एक ही के दिमाग से किसी

विद्या का विधान नहीं निकल सकता। अगर वैसा किया जाय तो समाज में भिन्न-भिन्न स्वतंत्र विचारों की जड़ कट जायगी और किसी भी देश और समाज के लिये यह हालत मौत से बदतर होगी।

दूसरा दरबारी—और राजा को हुकूमत के कामों से इतनी फुर्सत ही कहाँ रहती है कि वह इसके लिये भी अपना समय दे।

मंत्री—हाँ, सो भी ठीक है।

तीसरा दरबारी—और महाराज, शिक्षा-प्रचार का विषय इतना गंभीर है कि उसपर इस तरह विचार भी नहीं किया जा सकता। गुरु ही समय और पात्र को देखकर उसके लायक ज्ञान-विधान का फैसला कर सकता है।

हरि०—ये सब बातें मेरे ध्यान में हैं। ज्ञान-विस्तार से मेरा मतलब कोरे ज्ञान से नहीं है, बल्कि ज्ञानोपदेशकों से है। अभी देहातों में बहुत जगहों पर लायक विद्वान नहीं पहुँच रहे हैं।

पहला दरबारी—यह तो सच है।

हरि०—इंतजाम से मेरा मतलब यह था कि किस जगह कैसे विद्वानों की जरूरत है, वहाँ उनके रहने में क्या-क्या दिक्कतें हैं—इन सब की जानकारी रखना और उचित

कार्रवाई करना। वहाँ वैसे आदमियों को खोजकर भेजना वगैरह, इसके अन्दर आ जायगा। मैं उसी बारे में—

(दरबान आता है)

दरबान—महाराज, मुनि विश्वामित्र आना चाहते हैं।

हरि०—मंत्री! उनको जल्द लिवा लाओ। (मंत्री और दरबान जाते हैं) इस विषय में हम इन ऋषि से भी सलाह ले सकते हैं। उन्हीं लोगों की राय की कीमत ज्यादा होगी। क्योंकि वे लोग बराबर जनता की सेवा में लगे रहते हैं। अच्छा तब....

(विश्वामित्र आते हैं। सब लोग खड़े हो जाते हैं। महाराज सिर झुकाते हैं। फिर आसन की ओर इशारा कर बैठने को कहते हैं। मगर विश्वामित्र ज्यों के त्यों खड़े रहते हैं। आँखें चढ़ी हुई हैं। सब लोग उनकी ओर अचरज से देखते हैं।)

हरि०—ऋषिवर, आसन पर विराजिये। हम आपसे कुछ उपदेश लेना चाहते हैं।

विश्वामित्र—उपदेश! हमसे उपदेश लेना चाहते हो! कैसी विनम्रता है!

हरि०—यह क्या? मुझसे कुछ अविनय हुआ क्या? माफ़ कीजिये मैं अनजान—

विश्वा०—हाँ, खूब अनजान हो! सब सत्यानाश करा डाला और अनजान बने हो। हूँ :—

हरि०—यह क्या? मैं कुछ जानता ही नहीं।

विश्वा०—तुम क्यों जानोगे! राजा हो न? आँखें हम जैसों की तकलीफ़ों को क्यों देखेंगी?

हरि०—ऋषि, मैं आपका सेवक हूँ। मैं जानना चाहता हूँ कि मुझसे क्या अपराध हुआ है। यदि कसूर हुआ ही है तो मैं उसका प्रायश्चित्त करने को तैयार हूँ।

विश्वा०—तैयार हो?

हरि०—बिलकुल। और प्रायश्चित्त भी आप ही बतायेंगे क्योंकि—

विश्वा०—जानते हो? इस अपराध का प्रायश्चित्त बड़ा कठिन होगा।

हरि०—होने दीजिये। चिन्ता नहीं।

विश्वा०—सच कह रहे हो? प्रायश्चित्त के वास्ते तैयार हो?

हरि०—हरिश्चन्द्र कभी झूठ नहीं बोलता। आप कहिये।

विश्वा०—अच्छी बात है। तो सुनो। तुम्हारे आदमियों ने जाकर हमारे आश्रम को तहस-नहस कर डाला है; हमारी तपस्या में बाधा पहुँचायी है। तुम्हारे राज्य में प्रजा कष्ट भोग रही है और तुमको इसका पता नहीं।

तुम अदूरदर्शी और घमंडी हो। राज-काज में सावधान नहीं हो। अनजान में भी राजा से दोष नहीं होना चाहिए। इसलिये तुम सिंहासन छोड़ दो। तुम इस पद के लायक नहीं हो। यही प्रायश्चित्त है।

(सब लोग चुप रह जाते हैं। हरिश्चन्द्र थोड़ी देर तक अचरज से उन्हें देखते हैं; फिर स्थिर होते हैं।)

विश्वा०—बोलो, मंजूर है? प्रायश्चित्त के वास्ते तैयार हो?

हरि०—मुनिवर, हरिश्चन्द्र तैयार है। मगर, आप यह.....

विश्वा०—ओ, तो तुमने समझा था कि मुनि कहेंगे कि दो दिन उपवास करके हजार ब्राह्मणों को भोजन करा दो और प्रायश्चित्त हो गया!

मंत्री—ऋषिवर, आप यह क्या कह रहे हैं?

हरि०—(चौंककर) तुम लोग चुप रहो। ऋषिवर इन्हें माफ़ करें। मैं अपनी बात पर अटल हूँ। मैं राज्य छोड़ने को तैयार हूँ। मेरी बहुत दिनों की अभिलाषा भी पूरी होगी। (विश्वामित्र चौंकते हैं) लेकिन इसको सम्हालने-वाला कोई लायक आदमी मिलना चाहिये।

विश्वा०—कैसा आदमी? क्या तुम मुझे उस लायक नहीं समझते?

हरि०—नहीं, नहीं, मेरा मतलब·····

विश्वा०—इस बहाने-बाजी से काम नहीं चलेगा। कह दो—अपना वचन वापस लेता हूँ। मैं गरीब दुर्बल ऋषि कर ही क्या सकता हूँ!

हरि०—नहीं, ऋषिवर, हरिश्चन्द्र अपना वचन लौटायेगा नहीं। मैं सोच रहा था कि जो तपोराज्य के मालिक हैं वे यह बोझ क्यों कर उठाएँगे?

विश्वा०—अभी तुमको इस बोझ से छुटकारा देने के वास्ते मैं तैयार हूँ।

हरि०—तब ठीक है। आपसा योग्य पात्र मुझे और कहाँ मिलेगा? तो मैं तैयार हूँ।

मंत्री—महाराज, यह आप क्या कर रहे हैं? मुनिजी, आपकी बातों पर मुझे अचरज हो रहा है।

हरि०—अब तुम लोगों के बोलने का समय नहीं रहा।

दूसरा दरबारी—महाराज, जब तक हममें जान है तब तक वैसा हरगिज़ नहीं होने देंगे। ये भले ही बड़े महात्मा हों, मगर अयोध्या को तो महाराज ही प्यारे हैं।

हरि०—अगर तुम लोग सचमुच प्यार करते हो तो जो मैं कहता हूँ वह करो।

विश्वा०—सभासदो, मैं अब भी कहता हूँ। मुझे इस राज्य को पाने की कोई ख्वाहिश नहीं है। महाराज चाहें तो अब भी अयोध्या के राजा बने रह सकते हैं। आप उन्हें मनाइये।

हरि०—ऋषिवर, आप मुझसे प्रायश्चित्त कराना चाहते हैं या मुझे सत्य-भ्रष्ट करना चाहते हैं? मैं घोषणा करता हूँ कि इसी क्षण से अयोध्या का यह सारा राज्य, खजाना, सेना, महल, जेवर, जेवरात जो कुछ भी हैं सब आपके।

(सब लोग कुछ देर चुप रहते हैं)

विश्वा०—अच्छा सुनिये, सभासदो, दरबारियो और मंत्री-गण, आज से यह सब कुछ मेरा हुआ। अब इसके राजा हरिश्चन्द्र नहीं, विश्वामित्र हैं।

हरि०—हाँ, सारे जगत में ढिंढोरा पिटवा दीजिये कि यह सारा राज्य और खजाना विश्वामित्र मुनि का है, हरिश्चन्द्र का नहीं।

विश्वा०—(कुछ देर चुप रहकर) अच्छा तो, अब सम्राट मैं हूँ। और मैं आज्ञा देता हूँ कि भूतपूर्व महाराज हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी और लड़के के साथ कल सबेरे अयोध्या छोड़ दें। साथ में पहनने के कपड़े के सिवा कुछ न हो।

(सभासद लोग विरोध करते हैं। शोर मच जाता है।)

हरि०—भाइयो, अब इस तरह जबर्दस्ती करने से कुछ न होगा। आज से तुम्हारे राजा महर्षि हुए। उनका हुक्म.....।

एक—मुझे विश्वामित्र का राज्य नहीं चाहिये।

हरि०—नहीं सुनो। मेरी बहुत दिनों की ख्वाहिश पूरी हुई। तुम लोग जैसी मुझपर भक्ति और प्यार रखते थे वैसी इन पर भी रखना। अच्छा महात्मा, अब यह राज्य आपका हुआ। आप इस सिंहासन पर विराजिये।

विश्वा०—अच्छा यह तो हुआ, मगर एक बात और है।

हरि०—वह क्या?

विश्वा०— मैं देख रहा हूँ कि इस सिंहासन पर बैठने से भी कोई फायदा न होगा। क्योंकि तुम आसानी से प्रजा में विद्रोह कराकर मुझसे सिंहासन छीन लोगे। और—

हरि०—नहीं महाराज, हरिश्चन्द्र ऐसा धोखे-बाज नहीं है। मैं जनता को समझाकर ही जाऊँगा। आपके राज्य में पूरी शांति विराजेगी। मंत्री, देखो, नगर में मुनादी करवा दो—अयोध्या के निवासी एक जगह पर जमा हों। मैं उनसे कुछ कहना चाहता हूँ।

मन्त्री—जो आज्ञा (जाता है)

विश्वा०—तुम कहाँ जाओगे? देखो, कहीं भी जाओ, मगर अयोध्या राज्य की सीमा में नहीं रह सकते।

हरि०—(चौंककर) क्यों मुनिवर! मैं तो देहात में रहकर देहाती बनकर उनकी कुछ सेवा करना चाहता था।

विश्वा०—सेवा····? तो अयोध्या राज्य के बाहर देहात नहीं हैं क्या? या वहाँ सेवा की जरूरत नहीं है? नहीं, मुझे शक हो रहा है—तुम्हारी नीयत पर।

हरि०—बस बस, ऋषिवर। आपका डर दूर करने के वास्ते मैं यह भी प्रतिज्ञा करता हूँ कि बिना आपकी इच्छा के अयोध्या राज्य के अन्दर पैर भी नहीं रखूँगा। अयोध्या राज्य के बाहर भी देहात हैं। सच है। मैं वहीं सेवा करूँगा।

विश्वा०—ठीक है।

हरि०—और कुछ कहना है?

विश्वा०—आँ?····(कुछ क्षण सोचकर) हाँ, एक बात तो मैं भूल ही रहा था। दान की दक्षिणा भी होनी चाहिये। बिना दक्षिणा का दान मैं स्वीकार नहीं कर सकता।

हरि०—तो इसकी दक्षिणा क्या होगी?

विश्वा०—दान बड़ा है, इसलिये दक्षिणा भी उसीके मुताबिक होनी चाहिये! खैर, एक हजार स्वर्णमुद्रा इसकी दक्षिणा में दे दो।

हरि०—अच्छी बात है, मुझे स्वीकार है। खजांची, ऋषि को एक हजार स्वर्ण-मुद्रा दे दो।

खजांची—जो आज्ञा ।

विश्वा०—बस, हरिश्चन्द्र ध्यान रखो । तुम खजाना, राज्य और सारा अधिकार दान कर चुके हो?—क्या भूल से मुँह से निकल गया? वापस चाहते हो वचन?

हरि०—जी नहीं !

विश्वा०—तो दक्षिणा?

हरि०—मगर मैं दक्षिणा लाऊँ कहाँ से? ऋषिवर, आपने तो मुझे····

विश्वा०—सो तो पहले ही सोचना चाहिये था ।

हरि०—मुझे तो कुछ उपाय ही नहीं सूझता है ।

विश्वा०—तो अपना वचन लौटा लो ।

हरि०—ऋषिवर, आप बार बार ऐसी बात न कहें ।

विश्वा०—तो फिर दक्षिणा लाओ ।

हरि०—(जोश में आकर) बस कीजिये ऋषिवर ! हरिश्चन्द्र अपने को बेचकर भी दक्षिणा चुकायेगा, मगर वचन से न टलेगा ।

विश्वा०—ठीक है, अपने को बेचकर दक्षिणा चुकाओ ।

हरि०—मगर इसके लिये कम से कम एक महीने का समय चाहिये ।

विश्वा०—ऐसा ही सही, आज से तीसवें दिन मैं तुम्हारे पास दक्षिणा के वास्ते पहुँचूँगा, अगर न दे सकोगे तो मैं यह राज्य और यह दक्षिणा वगैरह कुछ न लूँगा।

(बहुत से लोग दरबार में घुस आते हैं, 'मारो', 'मारो', 'पकड़ो', 'ढोंगी' आदि की चिल्लाहट। लोग विश्वामित्र पर टूट पड़ते हैं। हरिश्चन्द्र बीच में आकर उन्हें बचाते हैं)

हरि०—यह क्या? तुम लोग यह क्या कर रहे हो?

एक—इस दुष्ट मुनि को हम न छोड़ेंगे। यह बड़ा नीच है।

दूसरा—हम इसको राजा मान ही नहीं सकते। देखें, महाराज कैसे छोड़कर जाते हैं!

हरि०—सुनो—

तीसरा—इस ढोंगी मुनि को निकाले बिना हम कुछ न सुनेंगे।

हरि०—(जोश में आकर) सब लोग चुप रहो। (सब चुप हो जाते हैं) मैं तुम्हारा राजा हूँ। क्या सचमुच तुम लोग मुझे चाहते हो? प्यार करते हो?

सब—जरूर, जरूर।

हरि०—तब क्या यही तुम्हारा प्यार है? तुम क्या मेरी बेइज्ज़ती कराना चाहते हो?

बहुत लोग—हम हर्गिज़ आपकी बेइज्ज़ती नहीं देख सकते, इसीलिये तो—

हरि०—नहीं-नहीं, सुनो। मेरी बेइज़्ज़ती क्या है? मेरी आज्ञा का पालन न होना ही मेरी बेइज़्ज़ती है। महर्षि ने हमसे राज्य छीना नहीं है। मैंने ख़ुशी से उन्हें राज्य दान दिया है। क्या मैं अपने पुत्र को राज्य देकर तपस्या करने चला जाऊँ तो तुम उसे नहीं मानोगे?

सब लोग—जरूर, क्यों नहीं मानेंगे!

हरि०—तो फिर इन ऋषि को राजा मानो। यह मेरी आज्ञा है। यदि तुम लोग मेरी आज्ञा मानते हो, मेरी इज़्ज़त करते हो तो मानो।

एक—मगर, यह कैसे हो सकता है?

हरि०—तब तुम लोग मुझे प्यार नहीं करते। तुम चाहते हो कि तुम्हारा राजा झूठा बने; बदनाम हो—यही तुम्हारा प्यार है? बोलो—(सब चुप) तुमने मेरे कारण महर्षि को बुरे शब्द कहे हैं। अपराध किया है—उनका नहीं, मेरा। इसके लिये उनसे माफ़ी मांगो।—मांगो।

सब लोग—ऋषिवर, माफ़ कीजिये। (विश्वामित्र चौंकते हैं)

हरि०—अच्छा, चलो। बाहर सभा लगी होगी। मैं अपना आखिरी संदेश वहीं सुनाऊँगा। (रुककर) कौन जानता था कि सपने की बात इतनी जल्द सामने आयेगी!

विश्वा०—सपने की बात! (अचरज)

(धीरे-धीरे लोग जाने लगते हैं। विश्वामित्र अवाक् खड़े रह जाते हैं।)

दूसरा अंक

पहला दृश्य

[**समय**—दोपहर। गाँव के किनारे का एक रास्ता। चिल-चिलाती धूप। पेड़ के नीचे सूखे पत्तों पर हरिश्चन्द्र और शैव्या बैठे हैं। रोहित हरिश्चन्द्र की गोद में सिर रखे लेटा है। मामूली कपड़ों के सिवा और किसी के पास कुछ नहीं है। चेहरे मुरझाये और ओंठ सूखे हैं। रोहित का चेहरा लाल हो गया है। सबके कपड़े और बालों पर गर्द जम गयी है।]

रोहित—पिताजी, और कितनी दूर चलना है? बड़ी भूख लगी है। अब मैं चल नहीं सकता।

शैव्या—बेटा·····(रोने लगती है। गोद में लेकर कलेजे से लगा लेती है। रोने का वेग बढ़ जाता है।)

हरि०—वह देखो गाँव आ गया। अब जल्द पहुँच जायँगे।

रोहित—अब हमारे सिपाही कहाँ रहेंगे? हमारे महल में कौन रहेगा?

शैव्या—बेटा, अब उन सबों की बात मत चलाओ। देखो, कहाँ जाते हैं?

रोहित—क्यों बाबूजी?

हरि०—बेटा मेरा! (रोहित कुछ नहीं समझता है) कैसी कड़ी धूप है! पशु-पक्षी भी अपने-अपने घोंसलों में बैठे हैं। बेटा, थोड़ी देर सो जा। अब कंधे पर उठाकर ले चलूँगा। सो रह बेटा····।

रोहित—मुझे भूख लगी है।····माँ, तू रोती क्यों है?

शैव्या—क्या करूँ? दिल नहीं मानता।

(रोहित दोनों का मुँह देखता है)

रोहित—पानी! प्यास लगी है।

हरि०—जरा ठहरो बेटा, गाँव में चलकर पानी पी लेना।

शैव्या—कहीं पास कुँआ भी नहीं है। धूल आग हो रही है। ओह····

रोहित—माँ, कंठ सूख रहा है। पानी!

हरि०—(उठकर) आओ बेटा, तुम्हें कहीं से पानी पिला ही लाऊँ। (रोहित को उठाकर) देवी, मैं उस बगीचे में

जाकर देखता हूँ। वहाँ कुँआ जरूर होगा। तब तक तुम आराम करो।

(हरिश्चन्द्र चले जाते हैं। शैव्या कुछ देर टक लगाये उधर ही देखती रहती है।)

शैव्या—नाथ, आपके पैर जल रहे हैं—और मैं आराम करूँ? आराम! कितना सुन्दर शब्द है! पर आराम और सुख अब कहाँ? महल—नहीं, अब उनकी याद ही क्यों? मुझे कठोर बनने को कहते हैं। मगर, मेरे प्राण रोहित!—इस बचपन में ही····(फूट-फूटकर रोती है) यह दुःख कैसे उठाया जायगा?—नहीं, मैं सहूँगी। स्वामी के वास्ते सब कुछ सहूँगी। मगर लाल, रोहित कैसे सहेगा? हाय दैव!! (फिर आँसू बहने लगते हैं। गाँव की ओर से कोई औरत आती दिखाई पड़ती है। शैव्या आँसू पोंछकर स्वस्थ होने की कोशिश करती है। मगर बीच-बीच में हिचकी आ जाती है। थोड़ी देर बाद एक देहाती किसान युवती का प्रवेश। अचरज से शैव्या की ओर देखकर रुक जाती है।)

युवती—ओः, पैर जल गये! तुम कौन हो बहन?

(शैव्या चुप रहती है।)

युवती—(पास जाकर) क्यों, बोलती क्यों नहीं?

शैव्या—एक दुखिया हूँ।

युवती—इस दोपहरी में यहाँ क्यों बैठी हो? लू चल रही है!

शैव्या—और कहाँ बैठूँ?

युवती—तुम्हारा घर कहाँ है?

शैव्या—घर?—कहीं नहीं।

युवती—बहन, गुलाब के फूल-जैसे तुम्हारे हाथ-पाँव हैं। जरूर तुम किसी बड़े घर की बहू-बेटी हो। बताओ, मुझसे कहो। मैं जहाँ तक हो सकेगा, तुम्हारी सहायता करूँगी।

शैव्या—.....कुछ दुःख नहीं है, बहन। सहायता भी नहीं चाहिये।

युवती—तुम आ कहाँ से रही हो?

शैव्या—अयोध्या से।

युवती—अयोध्या से?—तो क्या यह बात सच है कि महाराज हरिश्चन्द्र ने अपना सब राज-पाट एक क्रोधी ब्राह्मण को दे दिया है; और खुद रानी और राजकुमार को लेकर वहाँ से चले गये हैं?

शैव्या—हाँ, सच है।

युवती—सच है? (बैठ जाती है) अरे, महाराज पागल तो नहीं हो गये हैं? भला, महारानी पैदल कैसे चलेंगी?

भला इस धूप और गर्मी में राजकुमार कैसे बाहर रह सकेंगे ?
—बहन, क्या साथ में नौकर-चाकर भी नहीं हैं ?

शैव्या—नहीं ।

युवती—तब उनके दिन कैसे कटेंगे ? ओह, और अयोध्या के लोगों ने उसी तरह उन्हें छोड़ दिया ?

शैव्या—क्या करते ; महाराज चाहते नहीं थे ।

युवती—नहीं बहन, मैं होती तो लाख मना करने पर भी महारानी का साथ न छोड़ती । हाय हमारे, राजा कितने दयालु थे ! हमारा कितना उपकार करते थे ! "उन्होंने" तो जब से सुना है, पागल-से हो गये हैं । (आँखों में आँसू भर आते हैं)

(दूर पर हरिश्चन्द्र आते दीख पड़ते हैं । कंधे पर रोहित है ।)

युवती—(थोड़ी देर चकित देखती रहती है) वे तो महाराज मालूम पड़ते हैं । हाँ, मैंने पारसाल उन्हें देखा था । हाँ—ठीक वही तो हैं । (घूमकर) तो क्या आप ही महारानी हैं ? हायरे भाग्य, महारानी ! चलिये मेरे घर—मगर मेरे घर पर कैसे ? (रुककर) अब क्या करूँ ? मैं जाऊँ, स्वामी को बुला लाऊँ । वही कुछ उपाय करेंगे । (शीघ्रता से प्रस्थान) [हरिश्चन्द्र का प्रवेश]

हरि०—पानी पीते ही लाल सो गया । आह मेरे बच्चे ! (चूमता है)

शैव्या—पानी ही तो भाग्य में बदा है। शायद....
(रोने लगती है)

हरि०—प्रिये, तुम इतनी अधीर क्यों होती हो? तुम तो कहा करती थी कि मैं रोहित को हर एक परिस्थिति के लिये तैयार कर रही हूँ। तुमसे मैं बराबर कर्तव्य के मार्ग पर चलने में बल ही पा रहा हूँ। मगर, आज मुझे तुम अपने आँसुओं से कमजोर क्यों बना रही हो?

शैव्या—नाथ, मैं अपने को रोकती हूँ, पर दिल रुकता नहीं है। मैं रोहित को सब कष्ट सहने के लिये तैयार करना चाहती थी, पर नहीं जानती थी कि वह कष्ट इतनी जल्दी आ जायगा।

हरि०—मगर इस तरह काम नहीं चलेगा। हमारा कर्तव्य दिन-दिन विकट होता जा रहा है, और हम लोग कमजोर। इस तरह तो हम परीक्षा में सफल न हो सकेंगे। मुझे विश्वास है कि तुम पीछे नहीं हटोगी। मुझे अकेला न छोड़ोगी। मगर....

शैव्या—नाथ, ऐसा न कभी हुआ और न होगा। मैं पीछे हरगिज न हटूँगी। मगर क्या करूँ? हृदय नहीं मानता। नाथ, तुम इन आँसुओं को देखकर अन्यथा न समझो। हम स्त्रियाँ काँटों पर चलती रहती हैं, आँसू बहते रहते हैं। लोग समझते हैं, इन काँटों को देखकर हम

रो रही हैं। नहीं, इसलिये नहीं रोतीं। (आँसू आ जाते हैं। हरिश्चन्द्र के कंधे पर सिर रख देती है। कुछ देर बाद—) मगर नाथ, तुम इन आँसुओं को देखकर घबरा रहे हो। अच्छा, अब मैं इन आँसुओं को रोकूँगी।

(हरिश्चन्द्र उसका सिर सहलाते हैं।)

शैव्या—निर्दय! इस बच्चे ने तेरा क्या बिगाड़ा था? अयोध्या के किसी कोने में पड़ा रहता?

हरि०—प्रिये, देखो, विश्वामित्र पूज्य हैं। ऋषि हैं। उनके प्रति कोई भी बुरा भाव हमारे मन में नहीं आना चाहिये।

शैव्या—नाथ, काँटों की सेज पर भी सोती; मगर रोहित—

हरि०—सत्यव्रती के लिये यह सब फूल होना चाहिये।

शैव्या—मगर माँ का दिल.....

हरि०—तो क्या तुमसे यह व्रत पाला न जायगा?

शैव्या—व्रत? जरूर पाला जायगा स्वामी! आप डरें नहीं। लेकिन यह हृदय पत्थर ही नहीं, मोम भी है। स्वामी, आप मेरी इस अवस्था को देखकर मुझे कमज़ोर न समझें; ये आँसू कमज़ोरी के नहीं, ममता के हैं।

हरि०—लेकिन वह ममता भी कमज़ोरी ही है न?

शैव्या—ज़रूर, मगर वह स्त्री-हृदय का सर्वस्व है। इसी संबल के सहारे हम कठिन से कठिन मार्ग पर भी चलती जायँगी। मैं हमेशा आपके पीछे चली आऊँगी। हो सकता है कि आप हँसते चलें और मैं रोती। मगर चलूँगी ज़रूर। हाँ, इन आँसुओं का मूल्य दुनिया चाहे जो लगावे! मगर मैं तो कह चुकी हूँ कि इन्हें अब मैं रोकूँगी।

(कोलाहल सुन पड़ता है।)

हरि०—यह क्या? गाँव के लोग झुंड के झुंड इधर ही चले आ रहे हैं!

शैव्या—शायद उस स्त्री ने इन लोगों से कुछ कहा है।

हरि०—कौन स्त्री?—उससे तुमने कहा ही क्यों? इसी से तो मैं गाँवों में ठहरता नहीं। बाहर ही बाहर निकल जाता हूँ। अरे ये तो.....

शैव्या—मैंने कहाँ कहा? (बहुत-से ग्रामीण आ जाते हैं। सब महाराज को प्रणाम करते हैं। महाराज भी हाथ उठाकर आशीर्वाद देते हैं।)

पहला बूढ़ा—(आगे बढ़कर) महाराज, ऐसा कभी नहीं हुआ। महारानी इस तरह पैदल चलें? आह, कुमार इस तरह पत्तों पर सोयें? यह नहीं हो सकता महाराज! आप ऐसा नहीं कर सकते।

हरि०—(हँसते हुए) क्या नहीं हो सकता, भैया ?

बूढ़ा—यही अन्याय। जो आपके पुरखों में कभी नहीं हुआ। अब भी न होगा। भारत की महारानी इस तरह मारी-मारी नहीं फिर सकतीं।

एक युवक—जब तक अयोध्या की प्रजा जिन्दा है, तब तक यह नहीं हो सकता। सन्यासी अयोध्या के सिंहासन पर नहीं बैठ सकता।

हरि०—ऐसा नहीं भाई, वे तुम्हारे राजा हो चुके हैं। मैंने उन्हें राजा बना दिया है।

दूसरा युवक—महाराज, मगर हम जानवर नहीं हैं कि जिस किसी के हाथ में सौंप दिये जायँ। हम अपना भला-बुरा सोच सकते हैं।

पहला बूढ़ा—चुप रह। क्या बक रहा है !

हरि०—नहीं, ठीक है। मैंने ऐसा समझा ही कब ? मैंने अपने से अच्छे आदमी को राज दिया है। ऐसा करने का मुझे बराबर अधिकार रहेगा। यदि किसी बुरे आदमी के हाथ में राज सौंपता तो तुम कह सकते थे।

युवक—मगर, हम तो आप ही को चाहते हैं।

हरि०—तो क्या मेरी व्यक्तिगत आज़ादी भी तुम छीन लोगे ? अगर जबर्दस्ती मुझे राजा बनाओ, तो वह मेरे

लिये सज़ा होगी। राज्य छोड़ने का हक तो मुझे होना चाहिये! लेने का भले ही न हो।

दूसरा बूढ़ा—तुम लोग चुप रहो जी!—महाराज, आप जा कहाँ रहे हैं?

हरि०—काशी जाने का विचार है।

(दूसरी ओर स्त्रियाँ शैव्या को घेरकर कुछ पूछती हैं।)

बूढ़ा—क्यों महाराज?

हरि०—ऋषि का ऐसा ही हुक्म है। मुझे एक हजार स्वर्ण-मुद्रा उन्हें दक्षिणा में भी देनी है।

बूढ़ा—तो महाराज, आज आप हमारे गाँव में रहें। हम सब मिलकर दक्षिणा की रकम चुका देंगे।

हरि०—नहीं, मैं अयोध्या राज्य की सीमा में नहीं रह सकता। और सारा राज्य दान कर देने के बाद फिर तुम्हारा धन कैसे ले सकता हूँ?

बूढ़ा—क्यों?

हरि०—क्योंकि तुम्हारा धन भी मेरा ही है और वह मैंने दान कर दिया है। मैं वचन दे चुका हूँ। देवी, चलो, अब दिन भी ढल रहा है। गर्मी कुछ कम हो गई है।

बूढ़ा—नहीं महाराज! आज तो हम आपको नहीं जाने देंगे।

हरि०—भैया, तुम लोगों के प्रेम से ही पेट भर गया। दिन रहते दो-तीन कोस निकल जाऊँगा। जल्दी काशी पहुँचकर दक्षिणा चुकानी है।

(हरिश्चन्द्र रोहित को कंधे पर उठाकर आगे बढ़ते हैं। शैव्या भी स्त्रियों के दल से बाहर निकल आती है।)

बूढ़ा—हाय रे कठोर दैव! (बहुत-से लोग व्याकुल हो जाते हैं। उनकी आँखों में आँसू भर आते हैं।)

एक युवक—देखें, विश्वामित्र कैसे राज करते हैं!

(जाते हुए हरिश्चन्द्र यह सुनकर चौंक पड़ते हैं। लौटकर युवक के पास आते हैं।)

हरि०—क्या कहा भाई?—नहीं-नहीं, यह ख्याल ठीक नहीं। क्या तुम लोग मेरी बात नहीं मानोगे? तुमने अगर ऋषि के खिलाफ़ आवाज़ उठायी तो मुझे बड़ा दुख होगा। क्या तुम मुझे इस हालत में भी तकलीफ़ पहुँचाओगे? बोलो। (युवक सिर झुका लेता है। उसकी आँखों से आँसू गिरने लगते हैं।)

हरि०—भाइयो, अब बिदा दो। मुझसे जान या अनजान में जो भूल हुई हो, उसे क्षमा करना। मैं राज छोड़कर जा रहा हूँ, उसका मुझे ज़रा भी दुःख नहीं है। मगर तुम लोगों का प्रेम छोड़कर जा रहा हूँ—यह सोचकर मेरा कलेजा फटा जा रहा है। अच्छा·····(गद्गद स्वर) (प्रस्थान)

(थोड़ी देर खामोशी। आँसू पोंछता हुआ एक बूढ़ा आगे बढ़ता है।)

बूढ़ा—हमारे बड़े पुण्य से ऐसे राजा मिले थे। कैसा त्याग—ओह!

(हरिश्चन्द्र और शैव्या जाते हुए दिखाई पड़ते हैं। इतने में पीछे से भीड़ चीरती हुई वही युवती जो पहले शैव्या से मिली थी—आगे आती है और दौड़कर शैव्या के पास पहुँचती है। हरिश्चन्द्र उसे समझाते हैं।)

युवती—मैं नहीं जाऊँगी। मैं आपके साथ रहकर आपकी सेवा करूँगी। भला, इन हाथों से आप काम कैसे करेंगी!

हरि०—नहीं बहन, तुमको कितना समझाया।—हम ऐसा नहीं कर सकते। तुम जाओ, घर लौट जाओ। पति-पुत्र की सेवा करो। उससे समय बचे तो गाँव के सैकड़ों गरीब-दुखी लोगों की मदद करो। हम खुद दूसरों की सेवा करना चाहते हैं।

शैव्या—बहन, तुम हमारी इच्छा के विरुद्ध हमारे साथ आओगी तो क्या हमें खुशी होगी! नहीं बहन, लौट जाओ।

(युवती खड़ी रह जाती है। हरिश्चन्द्र और शैव्या चल देते हैं। सारी जनता मूक खड़ी रहती है।)

(पर्दा धीरे-धीरे)

दूसरा दृश्य

(काशी की एक गली में एक ब्राह्मण का घर। समय—सवेरे आठ बजे। कपड़े इधर-उधर टँगे और पड़े हैं। जूठे बर्तन एक कोने में रखे हैं। एक ओर ओसारे में दो-तीन छात्र बैठे कुछ पढ़ रहे हैं। आँगन के एक कोने में एक दुबली गाय रस्सी से बँधी है। उसका पेट बैठा है। सामने घास का तिनका तक नहीं है। एक ओर पूजा का सामान रखा है। चौकी पर पंडित शिवनाथ उपाध्याय रेशमी चादर ओढ़े बैठे हैं। माथे पर भभूत। संध्या-वंदन का काम चल रहा है। दाढ़ी और सिर के बाल आधे सफेद। उम्र करीब ५५ साल की होगी। पंडितजी आचमन करके— बायें हाथ से मक्खियाँ उड़ाते हुए—)

पंडित—राम-राम! इन मक्खियों ने तंग कर डाला। अभी तक घर-दुआर यों ही पड़ा है—ओ पंडिताइन!!

(संध्या खतम कर गायत्री का जाप करने लग जाते हैं। इतने में उनका चार बरस का लड़का केदार दौड़ा हुआ आकर पूजा का पंच-पात्र उठा ले जाता है।)

पंडित—अरे भाग यहाँ से। ससुरा सब भ्रष्ट किया! छि: छि:! सब पूजा-पाठ नष्ट कर दिया। ज़रा नहला भी देती, सो नहीं—शिव-शिव!

(गायत्री का जाप करने लग जाते हैं। गाय रस्सी तुड़ाकर एक ओर चल देती है।)

पंडित—अरे गाय, गाय! ओ केदार की माँ, गाय खुल गई! अरे, मैं पूजा पर से उठूँ कैसे? अरे जनार्दन! ओ सुखदेव!—कहाँ गये? अभागे सब मर गये क्या? सब वहाँ बैठे हैं, मगर कोई सुनता भी है? सब बहरे हो गये।

(लड़के दौड़कर उनके पास चले जाते हैं। पंडितजी घबराकर उठते हैं।)

पंडित—अरे, भ्रष्ट किया सब पूजा-पाठ! अरे गाय उधर भागी जा रही है, उसे पकड़। इधर मेरे पास आया है क्या करने? (पुनः जाप शुरू करते हैं।)

(सब लड़के मिलकर गाय को पकड़ते हैं। फिर उसी खूँटे से बाँध देते हैं। गाय फिर चक्कर देने लगती है।)

पंडित—भला, अभी तक कोई सोता है! शिव-शिव! ओ केदार की माँ, अरे आठ बजने पर आये—घर-आँगन

यों ही पड़ा है और तुम खर्राट ले रही हो—शिव—शिव·····।

(फिर जाप करने लगते हैं। थोड़ी देर बाद आँखें मलती, बाल बिखेरे, मैले-कुचैले कपड़े पहने पंडिताइन का प्रवेश। जैसे अभी सोकर उठी हो। गोद में दो बरस का बच्चा। उम्र करीब २५ साल। पंडितजी के पास आकर।)

पंडिताइन—(जँभाई लेती हुई) क्या सबेरे-सबेरे हल्ला मचा रखा है! बापरे बाप, सोना भी हराम हो गया। तुम्हें नींद नहीं आती तो जाकर पहरा दो। हमें क्यों तंग करते हो? (जमीन पर बैठ जाती है।)

पंडित—अरे, अब भी कहीं सोने का समय है? शिव-शिव····। देखो, गाय रस्सी तुड़ा रही है। उसके आगे कोई एक मुट्ठी घास डालनेवाला नहीं। अरे, जनार्दन, अभागे, इसको यों ही बाँध दिया! अरे, घास तो डाल उसके आगे! (जाप करने लगते हैं।)

पंडिताइन—भला यह गाय अब बचेगी! गोहत्या का पाप न लगा तो कहना।

पंडित—शिव!····शिव! क्या सबेरे-सबेरे बक रही हो? (केदार सामने आता है) देखो तो इनको! कैसी दशा बना ली है। ढोरों की तरह लगते हैं। जरा नहला-वहला भी देती। शिव-शिव! मेरी पूजा आज भ्रष्ट हुई···· जाप करने लगते हैं।)

पंडिताइन—क्या मैंने ही इनका ठीका लिखाया है? तुम्हीं क्यों नहीं इन्हें भी सबेरे गंगा नहला लाते?

पंडित—गाय की वही दशा, घर-आँगन भिन-भिन कर रहा है। बच्चे सब अघोरी बने हैं। शिव····शिव····। (जाप।)

पंडिताइन—(क्रोध से) अपने से तो करते-धरते कुछ बनता नहीं, हुकूमत चलाने आते हैं! आग लगे इस घर में और इस पूजा-पाठ में। (वहाँ से उठकर दूसरी ओर बड़-बड़ाती जाती है) बापरे बाप, गाय को देखूँ मैं, बर्तन माँजूँ मैं, घर की सफाई करूँ मैं, बच्चों को सम्हालूँ मैं। अभागे सब मर भी जाते तो छुट्टी मिल जाती। (झाड़ू लेकर आँगन झाड़ने लगती है।) हे भगवान, जल्दी उठा ले जाओ मुझे। जब से इस घर में आयी हूँ, कभी भर नींद सोयी नहीं। कभी सुख नहीं जाना, स्वार्थ नहीं जाना। बैल की तरह काम कर रही हूँ। इसीलिये न वह मर गयी!

पंडित—अरे वह तो देवी थी। कितना काम करती थी! घर को आइना बनाये रखती थी। मेरी उस समय की धुसरी गाय को देखकर लोग अचरज करते थे। उसकी देह पर नज़र फिसलती थी!

पंडिताइन—हुआ, हुआ! मैं जानती हूँ; सुन चुकी हूँ कि कैसी थी। मेरा मुँह न खुलवाओ। मगर तुम्हें

क्या? काम करते-करते वह मर गयी। मैं भी मर जाऊँगी तो तीसरी बार मौर पहनना।

पंडित—शिव-शिव! क्या बक रही हो?

पंडिताइन—बक क्या रही हूँ। अब मुझमें इतनी ताकत नहीं रही कि पहले जैसा काम करूँ!

पंडित—(आचमन करके) कहा तो कि नौकरानी की खोज में हूँ, कहीं मिल गयी तो ले आऊँगा।

पंडिताइन—खूब, जब मैं आयी थी तभी से तुम नौकरानी ला रहे हो। तब न लाये तो अब क्या लाओगे? जब तीसरी आयगी तब नौकरानी लाना।

पंडित—शिव-शिव। आज मैं नौकरानी की खोज में जाता हूँ। देखो, कहीं न कहीं से लाता हूँ।

पंडिताइन—(बर्तन मलने के लिये बैठते हुए) बहुत खुश हो गयी मैं! (बर्तन मलने लगती है)

(पर्दा)

तीसरा दृश्य

(काशी। गंगा किनारे एक झोपड़ी। समय—दोपहर। कुछ मिट्टी के बर्तन इधर-उधर पड़े हैं। घर के अन्दर चटाई पर शैव्या बैठी है। मैले कपड़े। सूखा चेहरा। बाल बिखरे। पास ही रोहित लेटा है।)

रोहित—जरा, पानी दो माँ।

शैव्या—जरा ठहर जा बेटा, वे कुछ न कुछ लाते ही होंगे। आज बहुत देर हो गयी।—हे अन्नपूर्णा मैया! सारी दुनियाँ का पेट भरती हो। क्या तुम्हारी शरण में आये हुए इस छोटे लड़के के वास्ते तुम्हारे भंडार में कुछ नहीं है? (आँखें पोंछती है।)

—ले बेटा, पानी ही पी ले। कब तक रोकूँ। आज न मालूम उनको क्यों इतनी देर हो गयी। (पानी देती है। लड़का पीकर फिर लेट जाता है। शैव्या थपकी देती है। उसे नींद लग जाती है।)

—अयोध्या के महाराज का लड़का! लाल भूखे ही सो गये। राजकुमार—नहीं, अब ये सपने मुझे विकल न करें। सत्याग्रह! देखें क्या परिणाम होता है। स्वामी की कीर्ति पर····

(हरिश्चन्द्र कंधे पर कुछ पोटली रखे प्रवेश करते हैं। दाढ़ी और केश बढ़े हैं। रूखा चेहरा। पोटली पटककर बैठ जाते हैं।)

शैव्या—क्या हुआ नाथ!

हरि०—और क्या होगा? भाग्य का फेर है। कहीं नौकरी नहीं मिलती। किसी को जरूरत भी है तो वह मेरे हाथ-पैर देखकर नामंजूर कर देता है। नौकरी यों कोई दे भी, मगर सहस्र मुद्रा पहले देने के लिये कोई तैयार नहीं होता।

शैव्या—तब क्या होगा?

हरि०—मालूम नहीं क्या होगा। सारा शहर छान डाला। सब सेठ-साहूकारों से विनती की। मगर वे मेरी तकलीफ़ क्यों सुनने लगे?

शैव्या—वे दूसरों की तकलीफ़ सुनें और देखें तो साहूकार कैसे बने रहें! बच्चा भूखा ही सो गया है।

हरि०—आज अन्नपूर्णा के मन्दिर में देर से पहुँचा। तब तक प्रसाद बँट चुका था। भला हो उस साधू का, पता नहीं क्यों, उसने यह पोटली थमा दी। शायद उसको मेरी सूरत देखकर दया आ गयी।—हरिश्चन्द्र आज दूसरों के आगे हाथ पसार रहा है।—समय!

शैव्या—हाँ, मगर इस सब के वास्ते तो पहले से तैयार होकर ही आये हैं! अच्छा, रोहित को उठाकर खिला दीजिये। क्या लाये हैं?

हरि०—नहीं, अभी सोया है तो सोने दो। उठकर खायगा। फिर रात के लिये भी तो कोई उम्मीद नहीं है। इसी से दोनों वक्त काटना है।

शैव्या—मगर इस तरह कब तक काम चलेगा! आज-कल में विश्वामित्र मुनि आ धमकेंगे।

हरि०—क्या किया जाय?

शैव्या—तब इतनी तकलीफ़ बेकार जायगी। नहीं नाथ, कुछ न कुछ उपाय करना ही होगा।

हरि०—क्या उपाय? (रोहित करवट बदलता है। हरिश्चन्द्र सहसा घूमकर उसका चुम्बन करते हैं। आवेश से)—आने दो विश्वामित्र मुनि को। अब कुछ भी नहीं हो सकता। आह, रोहित!

मेरे जिगर के टुकड़े। कितनी तकलीफ हुई मेरे बच्चे को? क्या अधिकार है विश्वामित्र को....

शैव्या—(चकित देखती रहती है। थोड़ी देर बाद) नाथ, क्या इतनी दूर चलकर लौटना चाहते हो? नहीं स्वामी, अब तो चल चुके। ज़बान से निकली बात फिर लौटायी नहीं जा सकती।—कम से कम अयोध्या के महाराज नहीं लौटा सकते। राज गया, पाट गया, सुख गया—सब कुछ चला गया। बाकी यह पुत्र भी चला जाय! (हरिश्चन्द्र अचरज से शैव्या की ओर देखते हैं) मगर अब पीछे पग नहीं रखा जा सकता। नाथ, चाहे जिस तरह हो, वचन पूरा करना होगा। सत्याग्रही का वचन झूठा नहीं हो सकता।

हरि०—मगर कैसे?

शैव्या—न हो तो विश्वामित्र से और कुछ समय माँगा जाय।

हरि०—वे समय देंगे? उम्मीद नहीं।

शैव्या—मैं माँगूंगी। देखना, देते हैं या नहीं।

(हरिश्चन्द्र स्तब्ध रह जाते हैं। बाहर कुत्तों के भौंकने की आवाज होती है। हरिश्चन्द्र बाहर निकलकर उधर देखते हैं। विश्वामित्र को आता देख सहम जाते हैं। मुँह पर उदासी छा जाती है।)

हरि०—लो, वह ऋषि आ पहुँचे। मैं तो भूल ही गया—

(शैव्या बाहर निकल आती है। आगे-आगे विश्वामित्र, पीछे-पीछे नक्षत्रक। उसकी पीठ पर कम्बल की गठरी लटक रही है। हाथ में कमण्डल। हरिश्चन्द्र और शैव्या नमस्कार करते हैं।)

विश्वा०—कुछ ख्याल भी है? आज उनतीसवाँ दिन है। लाओ अब बाकी दक्षिणा।—जल्दी करो।

(सब चुप)

विश्वा०—अरे चुप क्यों हो गये? क्या....

(शैव्या चिन्ता के साथ हरिश्चन्द्र के मुँह की ओर देखती है।)

हरि०—ऋषिवर, अभी तक कोई इन्तजाम नहीं हो सका है। कोई कर्ज या आगाऊ देनेवाला दिखाई नहीं पड़ा।

विश्वा०—मुझे यह सब पुराण क्यों सुनाने बैठे हो? सीधा जवाब दो, हाँ या नहीं?

(हरिश्चन्द्र चुप रहते हैं।)

विश्वा०—क्या सोच रहे हो? न देने की इच्छा हो तो साफ कह दो।

हरि०—नहीं....

नक्षत्रक—एक महीने का और वक्त दे दीजिये गुरुजी!

(शैव्या करुण दृष्टि से उसकी ओर देखती है।)

विश्वा०—चुप रहो नक्षत्रक ! तुमसे कौन पूछता है ? बार-बार कहा कि बड़ों के बीच में न बोला करो। (हरिश्चन्द्र से)—बोलो।

शैव्या—ऋषिवर, आप दयालु हैं। एक महीने का और समय मिले। बड़ी कृपा होगी।

विश्वा०—(नरम पड़कर) देवी, ऐसा नहीं हो सकता। समय बढ़ाने से वचन की रक्षा नहीं हो सकती। फिर भी हरिश्चन्द्र समय माँगें तो दे दूँ।

हरि०—(आवेश में) नहीं ऋषिवर, कल हरिश्चन्द्र अपनी देह बेचकर भी आपका ऋण चुका देगा।—कल सूर्यास्त तक मैं आपकी दक्षिणा चुका दूँगा।

विश्वा०—अच्छा देखा जायगा। (लौट पड़ते हैं। नक्षत्रक उदास मुँह पीछे-पीछे जाता है। थोड़ी देर सब चुप रहते हैं।)

शैव्या—तो अब बैठने से काम नहीं चलेगा। चलो, अब अपने को बेचने के सिवा दूसरा कोई उपाय नहीं है।

(हरिश्चन्द्र शून्य दृष्टि से देखते रह जाते हैं। उनकी आँखें झपती नहीं हैं। रोहित उठता है और रोने लगता है। शैव्या भीतर जाती है। हरिश्चन्द्र वहीं बैठे रहते हैं। शैव्या भीतर पोटली इधर-उधर खोजती है; पर कहीं देख नहीं पड़ती)

शैव्या—अरे, वह पोटली कहाँ रख दी ? लाओ, रोहित को खिला दूँ।

हरि०—(चुप)

शैव्या—वह पोटली कहाँ रखी है ?

हरि०—(चौंककर) वहीं चटाई पर तो थी।

शैव्या—यहाँ तो कहीं नहीं है। बिल्ली या कुत्ता उठाकर ले तो नहीं गया ! कहीं नहीं है ! हाय दैव ! यह कैसी परीक्षा ले रहे हो ? (शैव्या सिर पकड़कर बैठ जाती है।)

(हरिश्चन्द्र उन्मत्त की तरह बाहर चले जाते हैं। शैव्या उधर देखती रह जाती है। रोहित भूख से रोता रहता है।)

(पर्दा जल्दी से)

चौथा दृश्य

(काशी में एक गली का नाका। समय दोपहर के तीन बजे। सड़क का एक किनारा। लोगों का आवागमन कम है। सड़क चौड़ी है। एक किनारे पर अशोक वृक्ष के नीचे हरिश्चन्द्र कंधे पर रोहित को लिये खड़े हैं। शैव्या सामने है।)

शैव्या—आप मेरी बात नहीं मानेंगे?

हरि०—नहीं, शैव्या, नहीं। मैं ऐसी बात हर्गिज़ नहीं मान सकता। वह देखो, सूर्य-भगवान आँखें लाल किये देख रहे हैं। सूर्यवंशी अपनी ब्याही पत्नी को बेचे, यह नहीं हो सकता।

शैव्या—आप यह क्या कह रहे हैं ?

हरि०—मैं ठीक कह रहा हूँ। सत्य और धर्म के पीछे मैं बहुत परेशान हुआ ! अब नहीं। दुनियाँ मुझे झूठा समझ ले।

शैव्या—महाराज, सत्य के पीछे परेशान होकर आपने सत्य पर कौन-सा एहसान किया है ? आप आज कैसी बातें कर रहे हैं ? आपको याद होगा, मैं रोती थी तो आप धीरज देते थे; तकलीफ़ सहने के लिये दारस देते थे। मैंने अपना कलेजा पत्थर का बना लिया है, और आप पीछे हट रहे हैं। नहीं, यह नहीं हो सकता।

हरि०—मगर, तुम्हीं सोचो। जिसने जीवन भर अपने हृदय का सौरभ तुम्हारे चरणों पर चढ़ाया हो; जिसने अपने कठिन विश्वास के साथ तुम्हारे जीवन को आनन्दमय बनाया हो; उस निश्छल हृदय के साथ तुम विश्वास-घात कर सकती हो ?....मुझसे नहीं होगा शैव्या ! मैं इस सुकुमार प्राण को बेच नहीं सकता। मैंने इसकी रक्षा का भार सारी सृष्टि को साक्षी रखकर अपने ऊपर लिया है। उसको अरक्षित छोड़ देने से, बेच देने से अगर मेरे सत्य या कीर्ति की रक्षा होती हो, तो मैं वह सत्य और कीर्ति भी नहीं चाहता। मैं····ऐसा नहीं हो सकता।

शैव्या—कीर्ति ? महाराज, कीर्ति की रक्षा के लिये मुझे आप बेच रहे हैं ? मैं इसके लिये आपके साथ नहीं आयी हूँ। कीर्ति के लिये आप मुझे बेचें तो भेड़-बकरों की तरह नहीं बिकूँगी। आपकी कीर्ति के लिये नहीं बिकूँगी।

हरि०—मगर, अपने धर्म और सत्य की रक्षा करने के लिये भी तुम्हें नहीं बेच सकता, शैव्या !

शैव्या—क्या ? अपना धर्म ? तुम्हारा सत्य ? क्या कहा ? तो क्या यह सत्य और धर्म सिर्फ़ आपका है ? क्या इसमें मेरा कुछ हिस्सा नहीं है ? अगर मैं यह मानती और जानती कि इसमें मेरा कुछ नहीं है तो शायद मैं यहाँ तक नहीं आती।

हरि०—नहीं शैव्या, मेरा मतलब.....

शैव्या—नाथ, मैं पूछना चाहती हूँ कि मेरा कोई अलग अस्तित्व है या नहीं ? क्या पुरुष-हीन नारी मनुष्य भी नहीं कहला सकती ? क्या अपनी देख-भाल और पालन-पोषण न कर सकने के कारण ही हम पुरुषों के गले पड़ती हैं ? क्या इस देश की औरतें पशुओं से भी गयी-गुजरी हैं कि वे एक टुकड़ा रोटी के वास्ते अपना शरीर एक पुरुष के हाथ बेच दें ?—नहीं महाराज। आप मोह में पड़कर सच्ची बात को देखना नहीं चाहते।

हरि०—नहीं देवी, कौन कहता है कि....

शैव्या—आप अब बहला नहीं सकते। पुरुष का सबसे बड़ा धर्म हो सकता है, स्त्री की रक्षा करना। मगर जब धर्म की रक्षा करनी हो तो पहले उसी की रक्षा होनी चाहिये। स्त्रियों को इतना निर्बल न बनाइये महाराज, कि उनकी रक्षा के लिये धर्म की बलि देनी पड़े। वे आप अपनी देख-भाल कर सकती हैं।

हरि०—लेकिन देवी, मुझसे यह काम न होगा।

शैव्या—कौन कहता है कि आप यह काम करें। सत्य और धर्म की रक्षा में मेरा जो हिस्सा है, उसकी जिम्मेदारी मेरे ही ऊपर है। मैं अपना कर्तव्य पूरा करने के लिये खुद बिकूँगी। मैं जाती हूँ, उस ब्राह्मण को बुलाए लाती हूँ; वह अधिक दूर न गया होगा।

(जाना चाहती है)

हरि० – ठहरो शैव्या, तुम यह क्या कर रही हो ?

शैव्या—स्वामी, आप झूठे कलंक से डर रहे हैं। दुनिया कहेगी कि हरिश्चन्द्र ने शैव्या को बेच डाला। अगर दुनिया ऐसा कहेगी तो वह नासमझ है।—शैव्या अपने सत्य और धर्म के वास्ते आप बिकेगी। (वेग से प्रस्थान)—मैं अभी आती हूँ।

(रोहित 'माँ' 'माँ' पुकारता है। तब तक वह ओझल हो जाती है। हरिश्चन्द्र एकटक उधर देखते हैं। रोहित हरिश्चन्द्र के पास आता है।)

रोहित—पिताजी, माँ कहाँ गयी? हूँ, हूँ, ऊँ....। (रोता है।)

हरि०—(साँस लेकर) कहाँ गयी? क्या बताऊँ?—(आप ही) हरिश्चन्द्र की प्राण-प्यारी परायी दासी बनेगी! हा!

रोहित—(पैर से लिपटकर) बाबूजी कहाँ गयी माँ? कब आयगी? तुमने क्या कहा?

हरि०—अभी आती हैं बेटा। चुप रहो।—नहीं, यह नहीं हो सकता। (मुँह पर दृढ़तासूचक भाव)

(थोड़ी देर में आगे-आगे शैव्या, उसके पीछे पंडित शिवनाथ उपाध्याय तथा शिष्य जनार्दन आते हैं। पं० शिवनाथ गले में रुद्राक्ष की माला, दाहिने हाथ में सुमिरनी तथा बायें में छड़ी लिये, कनटोप पहने हैं।)

शिवनाथ—(आते-आते) मगर मैं तुम दोनों को लेकर क्या करूँगा? तुम्हीं को ले जा रहा हूँ सो लाचार होकर।

(रोहित दौड़कर शैव्या के पास चला आता है।)

शैव्या—बड़ा पुण्य होगा पंडितजी। हमें संकट से उबारिये।

शिवनाथ—खूब; तुमको संकट से उबारूँ और अपने को उसमें डालूँ। खूब पुण्य सिखाती हो। हमारा धर्म-कर्म

बना रहे। उससे बढ़कर दूसरा पुण्य नहीं चाहिये। मैं दासी चाहता हूँ। सो भी ब्राह्मणी नहीं मानती है इसलिये।

(हरिश्चन्द्र की ओर देखता है)

शैव्या—मगर—

शिव०—फिर अगर-मगर क्या? वहाँ तो कहती थीं कि चलिये, स्वामी को मुद्रायें दे दीजिये। और यहाँ आकर फिर अगर-मगर करने लगीं। चल रे जनार्दन चल! यह सौदा न पटेगा। (जाना चाहता है)

शैव्या—(आगे जाकर) नहीं, नहीं देवता, मैं आपके साथ आ रही हूँ। आप स्वामी को मुद्रा दे दें।

शिव०—मगर मैं पहले ही कह चुका हूँ। पाँच-सौ मुद्रा से एक कौड़ी भी ज्यादा न दूँगा। यही ज्यादा है।

शैव्या—अच्छा लाइये।

शिव०—मगर पहले यह भी जान लो कि वहाँ क्या-क्या करना होगा। नहीं तो पीछे कुछ गड़बड़ी न पैदा हो जाय। देखो, घर-द्वार झाड़ना, बर्तन-बासन माँजना, गाय-गोरू की देख-भाल करना, बाल-बच्चों की देख-रेख करना, उन्हें नहलाना-धुलाना, मेरी पूजा का सामान ठीक करना, पंडिताइन को रसोई में मदद देना इत्यादि, इत्यादि।

शैव्या—मुझे सब मंजूर है।

शिव०—और एक बात मैं साफ-साफ कह दूँ। पंडिताइन का मिजाज कुछ तीखा है। उनकी बातों पर ध्यान न देना। समझा न? अच्छा अब लो मुद्रा। (बैठकर खोलने का उपक्रम करता है)

(हरिश्चन्द्र अब तक चुप खड़े रहते हैं। एकाएक मानों नींद से जागकर)

हरि०—ब्राह्मण देवता, आप अपनी मुद्रा अपने पास रखिये। यह नहीं बिकेंगी। (ब्राह्मण अचरज से शैव्या और हरिश्चन्द्र की ओर देखता है)

शैव्या—नहीं देवता, मैं चलती हूँ। (हरिश्चन्द्र से) यह क्या? मैं पहले ही कह चुकी हूँ। मैं खुद बिक रही हूँ। कर्ज़ चुकाने का आधा भार मेरे ऊपर भी तो है। यह अपना हिस्सा मैं देती हूँ। आप ऋषि को दे दीजियेगा। और बाकी का आप इन्तज़ाम कीजियेगा।

(हरिश्चन्द्र कुछ बोलने को उत्सुक होते हैं।)

शैव्या—बस, अब कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। मैं जो कर रही हूँ, करने दीजिये। (ब्राह्मण से) देवता, आप मुद्रा गिनिये।

(ब्राह्मण मुद्रा गिनने लगता है)

हरि०—शैव्या, कब का बदला चुका रही हो?

शैव्या—(मुद्रा की ओर देखते हुए) नाथ! जीवन भर के विश्वास और प्यार का।

हरि०—बड़ा अच्छा बदला है !

(शैव्या ब्राह्मण से मुद्रा लेकर हरिश्चन्द्र के कपड़े में रखकर हाथ में थमा देती है। ब्राह्मण उठ खड़ा होता है। शैव्या भी रोहित को लेकर चलने को उद्यत होती है।)

हरि०—शैव्या.....जा रही हो ?....

शैव्या—नाथ.....जा रही हूँ। (गद्गद स्वर)

हरि०—(दौड़कर रोहित को गले लगा लेता है। ब्राह्मण से) देवता, आज से यह बालक आप ही का'''(रोहित को चूमता है)

शैव्या—(रोहित को पास लेकर) कुमार, बाबूजी को प्रणाम कर ले।

(ब्राह्मण आगे बढ़ता है। शैव्या हरिश्चन्द्र के पैर की धूल सिर पर लेती है। हरिश्चन्द्र की आँखों से आँसू गिरते हैं।)

शैव्या—(खड़ी होकर) नाथ.....फिर कब.... ?

हरि०—फिर....(आँसू डबडबा आते हैं)

ब्राह्मण—दासी, जल्दी करो। वहाँ ब्राह्मणी घबरा रही होंगी।

(शैव्या रोहित को लेकर चल देती है। थोड़ी देर में नज़र से ओझल हो जाती है। हरिश्चन्द्र पागलों की तरह देखते रहते हैं।)

हरि०—(हाथवाले स्वर्ण-मुद्राओं की थैली की ओर देखकर)

रानी....यह....

(हाथ से कपड़ा छूट जाता है। स्वर्ण मुद्रायें जमीन पर बिखर जाती हैं। जिधर शैव्या गयी थी, उधर ही शून्य दृष्टि से देखते हरिश्चन्द्र खड़े रहते हैं।)

(पर्दा धीरे-धीरे)

पाँचवाँ दृश्य

(काशी में गंगा तट का एक मुहल्ला। मुहल्ला गन्दा और टूटे-फूटे बेमरम्मत घरों का है। देखने से मालूम होता है कि यह मुहल्ला नीच, अछूत कहे जानेवाले लोगों का है। चारों तरफ़ मिट्टी और फूस के घर हैं। बीच में एक दोमंज़िला पक्का मकान है। मगर सजावट और सफ़ाई नहीं है। ओसारे में मोढ़ा रखा है। उस पर सरदार कल्लू चौधरी बैठा है। कानों में मूँगेवाला कुंडल, हाथ में चाँदी के कड़े, लाल पगड़ी, कंधे पर मैला गमछा, उससे कुछ साफ़ घुटनों तक धोती। बड़ी-बड़ी मूँछें, काला शरीर। हरिश्चन्द्र सामने खड़े हैं। समय शाम के ५ बजे।)

कल्लू चौधरी—तुम्हारा नाम तो बड़ा वैसा है जी! अच्छा देखो, मैं तुम्हें हरिया कहकर बुलाया करूँगा। समझे न?

हरि०—अच्छी बात है। जैसी तुम्हा····(रुककर) आपकी मर्ज़ी।

चौधरी—अच्छा बोल! कौन काम तुझे पसन्द है? मरों का या ज़िन्दों का?

हरि०—नहीं समझा स्वामी?

चौधरी—वाह री समझ? इतनी बात भी नहीं समझ सके?—अरे हमारा कारोबार बड़ा है। तुम्हारे-जैसे बीसों आदमी काम करते हैं। मैं एक अक्लमन्द आदमी चाहता था। तुम्हारा चेहरा-मोहरा देखकर समझा था, तुम कुछ समझदार होगे—मगर ऊँ हूँ! खैर, तुम मसान-घाट पर मुर्दों का कर वसूल करना पसन्द करोगे या सूली चढ़ाने का काम लोगे! (हरिश्चन्द्र काँप उठते हैं)

हरि०—यों तो जो काम आप सौंपेंगे, वही करूँगा—

चौधरी—मगर?

हरि०—मगर मसान-घाटवाला काम मुझे सौंपे तो अच्छा हो।

चौधरी—हाँ-हाँ, मैं पहले ही समझ गया था? मैं आदमी को देखते ही पहचान जाता हूँ। वह काम तुझसे होगा भी नहीं, यह मैं समझ गया था। अच्छा, तू दक्खिन-वाले मसान-घाट पर जाकर रह! समझा न?

हरि०—जी, समझ गया !

चौधरी—अरे, वहाँ क्या करना होगा, सो भी समझा ?

हरि०—नहीं स्वामी ।

चौधरी—तब फिर समझा क्या ? देख, मसान में कोई आदमी कर चुकाये बिना मुर्दा जलाने न पावे । फ़ी मुर्दा एक मुहर । जिसके पास मुहर न हो, उसके कफ़न का आधा हिस्सा फाड़ लेना ।

हरि०—अच्छा स्वामी ।

चौधरी—फिर अच्छा ?—न ; तुझसे काम न होगा । अरे, पहले पूरा सुन तो सही । तू तो पूरा सुनता ही नहीं । (कुछ नशेबाज़ों-सी भाव-भंगी दिखलाता है)—और देख, मसान में मुर्दों के साथ कंबल, कपड़े, खाट, बर्तन वग़ैरह जो सामान आवें, उन्हें जमाकर गंगा में धो-धाकर यहाँ पहुँचा जाया करना ।

हरि०—मैं·····

चौधरी—और देख, सबेरे और शाम यहाँ आकर दरवाज़े पर झाड़ू लगाना । यहाँ से नज़दीक ही है मसान । बच्चों को ज़रा नहला-धुला भी लाया करना गंगाजी में ।

हरि०—और कुछ ?

चौधरी—पीपल के पेड़ के नीचे झोंपड़ी बनी है । उसी में रहना । खाना-पीना भी वहीं पका लेना । समझा न ?

हरि०—अच्छी तरह समझ गया मालिक?

चौधरी—नहीं, अभी पूरा नहीं समझा? ऊँ हूँ—। और देख, कुछ लोग बड़े धोखेबाज होते हैं। अँधेरे में चुपचाप मुर्दा फेंककर चले जाते हैं। इसलिये खूब होशियार रहना। कोई कर चुकाये बिना मुर्दा जलाने न पावे

हरि०—जी!

चौधरी—उनके रोने-कलपने से छोड़ नहीं देना।

हरि०—जी.....

चौधरी—अच्छा, तो देख, मुझे गोपीनाथ पंडा के यहाँ जाना है। ऐसा झूठा आदमी! रोज "कल-कल" करके दौड़ा रहा है। चार हजार मुहरें बाकी हैं। सूद है सो अलावा। आज वहाँ से लिये बिना उठूँगा नहीं। बाम्हन-जात पैसा लौटाना नहीं जानती। ख़ैर, तो जा; अब चला जा।—समझ गया न?

हरि०—जी, बहुत अच्छा।

चौधरी—(जाते हुए) न समझा हो तो फिर पूछ लेना। बिना पूछे न करना। बिना समझे तो हरगिज़ न करना। (चला जाता है)

(हरिश्चन्द्र गंगा की ओर देखते हुए कुछ क्षण खड़े रहते हैं। धीरे-धीरे अँधेरा फैल जाता है। हरिश्चन्द्र की आँखें उधर ही लगी रहती हैं। अँधेरा और सघन होता है। हरिश्चन्द्र की आँखें पथराती हैं। पैर थर-थर काँपते हैं और वह अंधकार की गोद में गिर पड़ते हैं। थोड़ी देर अचेत पड़े रहते हैं। फिर धीरे-धीरे उठते हैं और तनकर खड़े हो जाते हैं।)

हरि०—सत्य या जीवन? नहीं, तुम्हें नहीं छोड़ सकता। जीवन चाहे चला जाय। सत्य रूप भगवान! अपने भक्त को शरण में लो। हाथ पकड़ लो। (हाथ उठाये हुए धीरे-धीरे चले जाते हैं।)

तीसरा अंक

पहला दृश्य

(काशी। शिवनाथ पंडित का वही मकान। सफ़ाई ख़ूब है। घर-द्वार सुरुचिपूर्ण ढंग से सजा हुआ है। चीज़ें क़रीने से रखी हैं। समय दिन का दोपहर। खा-पीकर सब निश्चित हो गये हैं। धूप में बैठकर शैव्या रोहित के बाल साफ़ कर रही है। शैव्या की साड़ी कहीं-कहीं फटी है और कहीं पैबन्द लगे हुए हैं। रोहित लंगोटी और साधारण कुर्त्ता पहने हुए है।)

रोहित—माँ, जब तुम खा रही थी, तब पंडिताइनजी क्यों गुस्सा कर रही थीं—

शैव्या—बेटा, मुझसे कुछ काम बिगड़ गया था।

रोहित—नहीं माँ, झूठ कहती हो। वह तो कह रही थीं कि तुम ज्यादा खाती हो।

शैव्या—(जीभ काटकर) तुम औरतों की बातें क्यों सुनते हो बेटा?

रोहित—ऊँ हूँ—अब तुमको गाली देंगी तो मैं उन्हें मारूँगा, हाँ!

शैव्या—नहीं-नहीं बेटा! ऐसा नहीं कहना। वे हमारी मालकिन हैं। हमको खाना देती हैं, कपड़ा देती हैं।

रोहित—वे खाना देती हैं, तो तुम भी तो उनका काम कर देती हो। मैं भी पंडितजी के लिये फूल तोड़कर ला देता हूँ। गाय चरा लाता हूँ। कितना दूध देती है गाय? सब मलाई केदार खा जाता है लेकिन वह कुछ काम तो नहीं करता। मुझको ज़रा दूध भी नहीं देती हैं। एक दिन मैंने ज़रा दूध माँगा तो डाँटकर बोलीं—"तुम्हारा ही मुँह दूध पीने का है!"

शैव्या—क्या करोगे बेटा! (आँसू पोंछती है)

रोहित—मगर अब तुमको गाली देंगी तो मैं नहीं सहूँगा।

शैव्या—नहीं बेटा, ऐसा न करना। तुमको मेरे सिर की क़सम!

रोहित—मगर पंडितजी तो अच्छे आदमी हैं। पंडिताइन से छिपाकर मुझे मिठाई देते हैं।

शैव्या—मालकिन भी अच्छी हैं बेटा। ज़रा स्वभाव कड़ा है। इसलिये हमको नाराज़ नहीं होना चाहिये—लाल!

रोहित—अच्छा माँ, वह घाव—अब अच्छा हो गया—जलती लकड़ी से मार दिया था! मैं उस समय खेलने गया था, रहता तो·····। नहीं माँ, अब हम यहाँ नहीं रहेंगे। चलो यहाँ से।

शैव्या—कैसे लाल? पंडितजी ने हमारे लिये बहुत धन दिया है। उसके बदले में उनकी सेवा तो करनी ही पड़ेगी?

रोहित—तो क्या हम लोग सदा यहीं रहेंगे माँ?

शैव्या—(उसाँस लेकर) बेटा, तुम बड़े होकर धन कमाओगे और पंडितजी के रुपये अदा कर दोगे, तब हम यहाँ से चले जायँगे।

रोहित—क्या बाबूजी अब नहीं आयेंगे माँ?

शैव्या—बाबूजी!····बेटा····(गद्गद)

(पंडिताइन घर से बहुत-से धुले-अनधुले कपड़े लिये आती है। दूर खड़ी होकर।)

पंडिताइन—वाहरे वाह! इतने काम पड़े हैं और महारानीजी राजकुमार का बाल सवाँरने बैठी हैं। यह तो हमारी मालकिन बनकर आयी है! (शैव्या उठकर पास जाती है।)

शैव्या—क्या है मालकिन?

पंडिताइन—क्या है मालकिन? देख रही है कि मैं कपड़े लिये खड़ी हूँ, और तू मेरा मुँह देख रही है। पूछ रही है—क्या है? इसी तरह कपड़े साफ़ किये जाते हैं! (नीचे गिरा देती है) जा, इन्हें फिर से खूब पटककर साफ़ कर ला। (शैव्या कपड़े उठाती है) इससे एक भी काम ठीक नहीं होता है। बेकार घर का आटा गीला करती है। अरे, उनको इतनी सूझ होती तो मैं काहे को मरती? गये और मुहरें उँडेलकर यह निकम्मी औरत उठा लाये। (शैव्या कपड़े लेकर बाहर चली जाती है। रोहित खड़ा पंडिताइन की ओर देखता रहता है) एक भी काम इसका ठीक नहीं होता। घर झाड़ती है, तो कूड़ा वैसे ही पड़ा रहता है। बर्तन मलती है तो जूठा लगा ही रहता है।

पंडिताइन—(दूसरी ओर जाकर) यह देखो, सब बर्तन यों ही पड़े हैं। अभी तक देवीजी को माँजने की फुर्सत नहीं हुई। वे भला अपने लाड़ले का बाल सँवारेंगी या हमारा काम करेंगी? (रसोईघर के दरवाज़े पर जाकर) अरे, कलमुँही ने अभी

तक रसोईघर न लीपा, न साफ़ किया।—न, आज आवे वह। बाल पकड़के न पीटा तो फिर मेरा नाम नहीं!

(रोहित का चेहरा तमतमा जाता है। वह ज़ोर से मुट्ठी बाँधकर पंडिताइन के पास पहुँचकर अपने छोटे हाथों से उसे मारने लगता है।)

रोहित—तुम मेरी माँ को गाली दोगी? मैं मार डालूँगा। (रोने लगता है।)

पंडिताइन—(पहले हक्का-बक्का रह जाती है) अरे मुँहजला, तू मुझे मारने आया है। देखूँ तो। (ढकेल देती है। रोहित गिर जाता है। ऊपर से घूँसे-थप्पड़ों से मारने लगती है। रोहित चिल्लाने लगता है) और माँ का पच्छ लेगा? वही सिखा गयी इसको। नहीं, इतनी मजाल! (पंडित आँखें मलते हुए बाहर आते हैं, मानों सोए हुए थे।)

शिवनाथ—शिव-शिव! क्या हल्ला मचा रखा है? (रोहित को देखकर दौड़ते हैं। पंडिताइन थप्पड़-घूँसे लगाती रहती है। शिवनाथ रोहित को अलग खींच लेते हैं। पंडिताइन को हटा देते हैं।) यह क्या हत्या कर रही हो। शिव-शिव! गरीब बालक को तुम जीने देना नहीं चाहती।

पंडिताइन—तुम क्या आये बीच में पंचायत करने। यह मुँहजला मुझे मारेगा! सब वही सिखा गयी है।

शिव०—अरे, नादान बच्चा है। जैसा केदार वैसा यह!

पंडि०—हाँ-हाँ, तुम भी नादान हो। आज आवे वह। बोटी-बोटी न नोच लूँ तो····।

शिव०—अरे, कैसी पागल-सी बातें करती हो। वह बेचारी मारना सिखा जायगी! दिन-रात जी-जान की परवाह न करके तुम्हारी सेवा करती है, वह तुम्हें—

पंडि०—बड़े आये हो तरफ़दारी करके लड़ने।

शिव०—बस-बस, रहने दो। अरे, उसके-जैसा बोलना-चालना सीख लेती तो मैं तर जाता।

पंडि०—मैं अब उस कलमुँही को घर में रहने न दूँगी। अब मैं ही रहूँगी या वही! (घर में बड़बड़ाती हुई चली जाती है। पंडित रोहित को उठाकर धूल झाड़ते हैं और सिर पर हाथ सहलाते हैं। पर वह सिर हिलाकर हट जाता है।)

शिव०—तुम्हारी माँ कहाँ गयी बेटा? (रोहित कुछ नहीं बोलता) कितना अभिमानी है? न मालूम ये लोग कौन हैं? ज़रूर किसी बड़े घर के हैं। मगर पंडिताइन इनको—(चिन्तित होकर ओसारे की चौकी पर बैठ जाते हैं। शैव्या भीगे कपड़े कंधे पर रखे आती है। रोहित रोता हुआ दौड़कर लिपट जाता है।)

शैव्या—क्या हुआ लाल? क्यों रो रहे हो? मालकिन ने डाँटा है? उनको कुछ कहा तो नहीं तुमने? (गाल पर थप्पड़ों के निशान देखकर चिल्ला उठती है।) अरे, लाल, किसने इतना निर्दय होकर मारा है? हाय दैव! क्या मेरा

इतना सुख भी देखा नहीं जाता? (आंसू बहाने लगती है) अरे, तुमने मालकिन को कुछ कहा तो नहीं?

रोहित—(रोते हुए) वे तुमको गाली देती थीं। मैंने भी मारा।

शैव्या—आँ, मालकिन को मारा? क्या किया रोहित! हाय! मैं क्या करूँ? मुझे वे कैसे क्षमा करेंगी? कितनी बार तुमको सिखाया कि वे मालकिन हैं। उनकी गाली-मार भी हमें सहनी होगी। पर तू····

(पंडित उठकर नज़दीक आते हैं। शैव्या उन्हें देखकर कपड़े ठीक कर खड़ी होती है।)

शैव्या—महाराज, क्षमा करें। नादान बालक है। यह नहीं जानता कि····

शिव०—नहीं, नहीं, अब मैं यह अत्याचार नहीं देख सकता। देखो दासी, मैं तुमको ऋण-मुक्त करता हूँ। तुम चली जाओ। यह हत्या मैं अपने ऊपर नहीं लूँगा।

शैव्या—भगवन्, आप दयालु हैं। मगर मैं कैसे जाऊँ—धर्म तो ऐसा नहीं कहता।

शिव०—मगर मेरा धर्म भी तो नहीं कहता कि किसी अनाथ पर दिन-रात अत्याचार होता रहे और मैं देखता रहूँ। इतने दिनों से····

शैव्या—नहीं, अब मैं कोई शिकायत न होने दूँगी देवता! मालकिन के क्रोध करने की नौबत ही नहीं आएगी। आप मुझे अपनी सेवा से अलग न करें, मुझे अपने धर्म से वंचित न करें।

शिव०—(कुछ देर स्तंभित रह जाता है) मेरा अनुमान था कि तुम बड़े घर की हो। (शैव्या कपड़े फैलाने चली जाती है।) कैसी देवी है? मगर इसके ऊपर होनेवाले अत्याचार को कैसे रोकूँ? पंडिताइन तो मेरी बात मानती नहीं। (चिंतित खड़ा रहता है।)

———

दूसरा दृश्य

(विश्वामित्र मुनि का आश्रम। समय—शाम के पाँच बजे। कुटी में विश्वामित्र उदास बैठे हैं। विद्यार्थी चारों तरफ़ खड़े हैं। कोई पंखा कर रहा है, कोई पानी ला रहा है। मुनि के चेहरे पर अस्वस्थता के चिह्न दिखाई पड़ते हैं।)

विश्वा०—सब लोग अच्छी तरह हैं न?

मधुकर—सब अच्छे ही हैं। गुरुजी, आप तो हम लोगों को एकदम भूल गये। आपके बिना मन नहीं लगता है गुरुजी! (लड़के मधुकर की ओर कनखियों से देखते हैं।)

विश्वा०—अच्छा, तो क्या तुम लोग चाहते हो कि मैं चला जाऊँ! तुम लोगों को छोड़कर बहुत दिन अयोध्या में रहा। अरे, नक्षत्रक अभी तक नहीं आया! क्या उसको मेरे आने की बात नहीं मालूम हुई?

एक छात्र—वे यहाँ हैं कहाँ? आजकल नदी के किनारे एकान्त में बैठे रहते हैं।

विश्वा०—अच्छा—

मधुकर—हाँ गुरुजी, इधर उनमें बहुत परिवर्तन हो गया है। बड़े गंभीर बन गये हैं। हरदम उदास मुख कुछ सोचते रहते हैं।

विश्वा०—ओह! मेरा चित्त अस्वस्थ है। मुझे एकांत में रहने दो! तुम लोग जाओ। मैं ज़रा आराम करूँगा। नक्षत्रक आवे तो भेज देना। (कुश की चटायी पर लेटते हैं।)

दूसरा छात्र—अब आने का समय तो हो गया है।

(सब छात्र एक-एक कर चले जाते हैं; विश्वामित्र लेट रहते हैं। फिर मानों आवेश में झटके से उठ बैठते हैं।)

विश्वा०—वसिष्ठ! मैं तुमसे नहीं हारा, मगर हरिश्चन्द्र के सामने मेरा सिर झुक गया है। हरिश्चन्द्र के सत्य पर मैंने शक किया था। राज्य छोड़ने के दिन भी उसको पहचान लेता तो—। गुप्तचर जैसा बयान कर रहा है, अगर वह

ठीक है तो हरिश्चन्द्र ऋषियों से भी बड़ा, देवताओं से भी महान् है।—वसिष्ठ, आज तुम्हारी बात सच्ची मालूम हो रही है। हरिश्चन्द्र, तुमने मेरे मिथ्याभिमान को अच्छी तरह कुचल दिया है। मगर अब क्या करूँ? (देखते-देखते लेट जाते हैं। क्षणभर बाद नक्षत्रक आता है और नमस्कार करके खड़ा होता है। "अरे, गुरुजी अँधेरे में लेटे हैं!"—कहता हुआ मिट्टी का दिया लेकर एक तरफ़ रख देता है। फिर विश्वामित्र के पास जाकर बैठता है।)

नक्षत्रक—गुरुजी! शायद सो गये। बहुत थके मालूम पड़ते हैं।

विश्वा०—हाँ नक्षत्रक, थका ही हूँ। कहो, अच्छे तो हो?

नक्षत्रक—बहुत अच्छा हूँ। पहले तो आपका डर भी रहता था। मगर अब तो स्वतंत्र हूँ। हमारे आचार्य, जिन्हें आपने हमारा भार सौंपा है, कभी नाराज़ नहीं होते।

विश्वा०—अच्छा!

नक्षत्रक—मालूम पड़ता है, गुरुदेव को अयोध्या बहुत पसंद आ गयी है। पसंद आने लायक़ जगह भी है। मगर हम लोगों को एकदम भूलते जा रहे हैं गुरुदेव।

विश्वा०—क्यों जले पर नमक छिड़क रहे हो नक्षत्रक!

नक्षत्रक—यह क्या गुरुजी! मैं नहीं समझा! मैं तो कह रहा था कि आप पहले जल्दी-जल्दी आया करते थे, मगर इधर महीनों से नहीं आये। गलती हुई हो तो माफ़ करेंगे गुरुजी!

विश्वा०—नहीं नक्षत्रक। अब दुनिया में किसी से गलती नहीं हो सकती। दुनिया की सारी ग़लतियाँ समेट-कर मैंने अपने में रख ली हैं।

नक्षत्रक—गुरुजी, आपकी बात मेरी समझ में नहीं आ रही है।

विश्वा०—मेरी समझ में भी नहीं आ रही है। (उठकर बैठ जाते हैं) सोच रहा हूँ कि सदा के लिये अब अयोध्या को छोड़ दूँ—और तुम लोगों के साथ फिर शांत जीवन बिताऊँ।

नक्षत्रक—(रूखी हँसी हँसकर) मैं तो समझ ही रहा था कि आपसे यह काम ज़्यादा दिन तक न चलेगा।

विश्वा०—वही नहीं, बल्कि—

नक्षत्रक—बल्कि क्या गुरुदेव?

विश्वा०—(कुछ देर चुप रहकर) तुम्हारी क्या राय है, नक्षत्रक?

नक्षत्रक—मेरी राय क्या? मैं बड़े लोगों के बीच में बोलना उचित नहीं समझता, गुरुजी।

विश्वा०—हाँ-हाँ, जितना जी चाहे उपहास कर लो। विश्वामित्र की क्रोधाग्नि पर सैकड़ों मन राख जम गयी है। वह अब किसी को जला नहीं सकती। सारी दुनिया हँस रही है, तुम भी हँस लो।

नक्षत्रक—क्या बात है गुरुजी? आज आप बहुत उद्विग्न-से हो रहे हैं!

विश्वा०—जान-बूझकर अनजान न बनो नक्षत्रक!

नक्षत्रक—मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है।

विश्वा०—पहले तुम बताओ, तुममें ऐसा परिवर्तन क्यों हो गया है? पहले तुम ऐसे गंभीर तो न थे।

नक्षत्रक—मुझमें परिवर्तन? मुझे तो कुछ भी देख नहीं पड़ता। मगर हो सकता है कि मैं बदल गया होऊँ। जब आप ही को बदला हुआ पा रहा हूँ तो मेरे बदलने में कोई बड़ी बात नहीं है। गुरुजी, मेरी समझ में नहीं आ रहा है कि अविश्वास, स्वार्थ, दंभ, असहनशीलता आदि से भरी दुनिया में लोग रहना क्यों चाहते हैं? क्यों इसे इतना चाहते हैं? गुरुजी, आप पर मेरी बड़ी श्रद्धा थी,

इसीलिये कि आप इस छली दुनिया को लात मारकर अलग हो गये थे। मगर····

विश्वा०—हाँ, कहो। रुको नहीं नक्षत्रक। कह डालो। आज मैं यही चाहता हूँ कि कोई मुझे खूब कोसे। कहो, मुझे स्वार्थी, नीच, दंभी, तुच्छ, अविश्वासी, जो कुछ कहना चाहो—कहो। मेरा भार हल्का होगा। मेरे कलेजे पर का पत्थर उतर जायगा। सब लोग पीठ-पीछे मेरी निंदा करते हैं। आज तुम मेरे सामने मेरी निंदा करके मेरा हृदय हल्का करो। तुम मेरे प्रिय शिष्य हो। ····ओह! घमण्ड आदमी को कहाँ तक ले जा सकता है? देखो। सीखो नक्षत्रक, मुझे देखकर ही सीखो—चेतो।
(उठकर खड़े हो जाते हैं। नक्षत्रक भी उठता है।)

नक्षत्रक—गुरुजी!····

विश्वा०—नहीं-नहीं, कह डालो। मैंने हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यवादी और धर्मात्मा को दुःख दिया है। कैसा दुःख? जिसको देख-सुनकर पत्थर का कलेजा भी चूर-चूर हो जायगा। हरिश्चन्द्र की रानी पतिव्रता—सूर्यवंश की लक्ष्मी—आज जो यातनायें भोग रही है, याद करके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यह सब मेरे झूठे अभिमान के कारण, ईर्ष्या के कारण हुआ। मेरे दंभ ने इतना बड़ा तूफ़ान खड़ा कर दिया है। ओह,

दो विशुद्ध महान् आत्माओं को मेरे अविश्वास के कारण नरक की ज्वाला में झुलसना पड़ रहा है।

नक्षत्रक—मैं क्या कहूँ ? आप महा-पुरुष····

विश्वा०—नहीं-नहीं नक्षत्रक, मैं महानीच हूँ। मैंने इस जीवन में बहुत-सी बुराइयाँ कीं, पाप किये, उसके प्रायश्चित्त भी किये। मगर—ऐसी वेदना कभी न हुई थी। पछतावे की ऐसी भयानक आग होती है, यह नहीं जानता था। पहली ही बार ऐसी वेदना का अनुभव कर रहा हूँ। मेरा कलेजा जल रहा है।

नक्षत्रक—तो अब आप क्या करना चाहते हैं गुरुदेव!

विश्वा०—कुछ नहीं सूझ रहा है। क्या बताऊँ ? तुम्हीं कुछ बताओ। मैं शांति चाहता हूँ। इसी लिये अयोध्या से भाग आया हूँ।

नक्षत्रक—मैं क्या बतलाऊँ गुरुदेव! अगर····

विश्वा०—चुप क्यों हो गये ? बोलो।

नक्षत्रक—गुरुदेव! संसार को बतला दीजिये कि विश्वामित्र हरिश्चन्द्र के सत्य और अहिंसा के सामने पराजित हो गया है और चलिये, हरिश्चन्द्र महाराज को अयोध्या लौटा लाइये। उनके चरणों पर अयोध्या का सिंहासन रख दीजिये।

विश्वा०—(चौंककर) क्या ?—हाँ नक्षत्रक, विश्वामित्र पराजित हो चुका है। उसका दंभ चूर-चूर हो गया है। अब और वह दंभ नहीं कर सकता। वह हरिश्चन्द्र के पैरों पर गिरने में अपना गौरव ही मानेगा। मगर क्या यह संभव है ?

नक्षत्रक—क्या ?

विश्वा०—यही कि हरिश्चन्द्र अयोध्या लौट आयें ? सो भी विश्वामित्र के कहने से ? विश्वास नहीं होता। क्या उनका सत्य इसमें बाधा नहीं देगा ?

नक्षत्रक—यह तो आप ही मुझसे ज्यादा समझ सकते हैं। मुझे तो कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती। आप उन महाजनों के पैसे लौटा दीजिये जिनके हाथ वे बिके हैं। अगर आपको अपने ऊपर विश्वास न हो तो अयोध्या की प्रजा के प्रतिनिधियों को भी साथ ले लीजिये। हरिश्चन्द्र महाराज ज़रूर मान जायेंगे। वे अपनी प्रजा की बात नहीं टाल सकते।

विश्वा०—(सोचकर) ठीक है नक्षत्रक, आज तू मेरा भी गुरु बन गया।

नक्षत्रक—यह क्या गुरुजी !

विश्वा०—नहीं-नहीं। अच्छा, अयोध्या चलने की तैयारी कर।

नक्षत्रक—इतनी उतावली नहीं गुरुदेव। अभी घोर रात्रि का समय है। आप आराम करें। मैं भी जाता हूँ। कल सबेरे अयोध्या चलने की तैयारी होगी। (नक्षत्रक जाना चाहता है।)

विश्वा०—नहीं नक्षत्रक, अभी चलना होगा।

(विश्वामित्र तेजी से चल देते हैं। उनके चेहरे पर तेज और संतोष की आभा झलकती जाती है। नक्षत्रक पीछे-पीछे जाता है।)

तीसरा दृश्य

[आधी रात। पीपल के पेड़ के नीचे झोंपड़ी। स्मशान-भूमि। गंगा की तेज़ धारा की भीषण आवाज़ सुनायी दे रही है। कहीं-कहीं चिता की आग जो पानी बरसने से कुछ बुझ गयी थी, फिर प्रज्वलित हो रही है। दूर पर स्यारों और कुत्तों की आवाज़। बादल घिरे हैं। अभी कुछ देर वर्षा हो गई थी। ज़मीन कीचड़ से भरी है। झोंपड़ी के अन्दर आग सुलग रही है। उसके पास एक आदमी बैठा है। वह कभी-कभी आँखें फाड़कर अँधेरे में किसी को देखने की कोशिश करता है।]

(कम्बल ओढ़े, हाथ में लाठी लिये हरिश्चन्द्र आते हैं।)

आदमी—आ गये आप? ओह! मैं तो समझ रहा था कि....

हरि०—भूत पकड़कर ले गये? अरे मुझे भूत क्या पकड़ेंगे? मैं ही उन सबों को खदेड़ आता हूँ। लेकिन सुन्दर, तुम तो डाकू थे न? फिर क्यों इतना डरते हो? तुम लोगों को तो रात-बिरात भयंकर-से-भयंकर जगहों में जाना पड़ता होगा।

सुन्दर—अरे, तो अकेले? अकेले में मुझे बड़ा डर लगता है। दूसरा आदमी साथ हो तो भूत के लकड़दादा से भी भिड़ जाऊँ।

हरि०—(कम्बल उतारकर रख देते हैं। आग के पास बैठकर हँसते हुए) वाह, तब तो बड़े साहसी हो! लेकिन तुम उठ कैसे गये?

सुन्दर—मैंने एक सपना देखा था।

हरि०—क्या?

सुन्दर—देखा कि राजा के सिपाही पैर में रस्सी बाँधकर घसीट रहे हैं। मैं जोर से चिल्लाया। बस, नींद खुल गयी। आपको खोजा, आप न थे। तब से नींद ही नहीं आयी। (उनके कपड़े छूकर) अरे आप तो भीगे हैं। क्या पानी बरसा था?

हरि०—हाँ, अभी ज़ोर की एक झड़ी आयी थी।

सुन्दर—आप भी.... । अच्छा महाराज, मैं कई दिन से पूछना चाहता था। क्या आपने यहाँ कभी भूत भी देखा है?

हरि०—नहीं तो ! कभी नहीं। यही मुझे भी अचरज होता है। लोग कहते हैं कि मसान में भूतों का बास होता है; मगर मैं कभी कुछ नहीं देखता।

सुन्दर—लेकिन महाराज, मैं तो अकेले जब कभी बाहर निकलता हूँ, तब किसी-न-किसी शकल में भूत जरूर देखता हूँ।

हरि०—यह तुम्हारा डर ही है सुन्दर। भूत-प्रेत कुछ नहीं; मगर सुन्दर, कई बार कह चुका कि मुझे महाराज कहकर मत बुलाया करो। अब मैं महाराज नहीं हूँ।

सुन्दर—क्यों नहीं ? आप अब भी महाराज ही हैं।

हरि०—तो क्या तुम भी अभी डाकू ही हो ?

सुन्दर—तो क्या महाराज, आप यह समझते हैं कि सुन्दर इतनी जल्दी बदल गया ! और सुन्दर बदल भी जाय तो दुनिया उसे 'सुन्दर डाकू' के सिवा और कुछ कहकर बुलायेगी ?

हरि०—क्यों नहीं ?

सुन्दर—आप भी कितने सीधे-सादे आदमी हैं ? अरे, दुनिया जब एक बार बुरा नाम रख देती है तो उसे फिर लाख कोशिश करने पर भी नहीं बदलती। हाँ, अच्छे नाम के बदलने में देर नहीं लगती।

हरि०—लेकिन तुम तो अब डाकू नहीं रहे।

सुन्दर—हाँ, अपनी और आपकी नज़रों में। मगर दुनिया की....

हरि०—अरे, दुनिया की बात छोड़ो, सुन्दर। अपनी नज़रों में ही अपने को तौलो। दुनिया की तौल अक्सर ठीक नहीं होती।

सुन्दर—महाराज, आप धन्य हैं। ओह! (लंबी सांस लेता है।)

हरि०—क्यों सुन्दर, मेरी तारीफ़ क्यों कर रहे हो?

सुन्दर—नहीं महाराज, मैं देखता हूँ कि राज-पाट, भोग-विलास, रानी, राजकुमार—सब छोड़कर आप इस तरह रहते हैं। इसीलिये मैं आपसे हार मान गया हूँ। यह काम भी आप कितनी खुशी से करते हैं! ओह!

हरि०—क्यों, यह काम बुरा कैसे हुआ सुन्दर? यह नीच काम नहीं। जब जो कर्तव्य निश्चित हो गया, वही सबसे बढ़िया और बड़ा काम है। उसी में जी-जान से लग जाना चाहिये।

सुन्दर—मगर महाराज! क्या आपको वे पुरानी बातें याद नहीं आती हैं? मुझे अब भी वे बातें याद आती हैं महाराज! ओह, कितना धन, कितने सेवक,

कितने जान देनेवाले साथी, कितना सुख—तो फिर एक बार डाकू बन जाने की इच्छा होती है। मगर आप तो....

हरि०—मुझे भी वे बातें याद आती हैं। मगर क्या किया जाय? मैं सत्य-धर्म का प्रेमी हो गया हूँ। उसने मुझे मोह लिया है।

सुन्दर—महाराज, जब आप ऐसी बातें करने लगते हैं तब मेरी समझ में कुछ नहीं आता।

हरि०—अच्छा सुन्दर, फिर डाकू बनने की इच्छा होती है?

सुन्दर—अरे जाने भी दीजिये। आपके-जैसा मेरा मन पत्थर का थोड़े ही है। मगर आपको देखकर.....
(जँभाई लेता है।)

हरि०—अच्छा, जाकर सोओ। मैं भी कपड़े सुखाकर आता हूँ। तुम्हें नींद आ रही है।

सुन्दर—हाँ, अब सो जाइये। कहीं फिर चक्कर लगाने न चले जाइयेगा। भला इस अँधेरी रात में, हवा साँय-साँय चल रही है, कोई आदमी मुर्दा फेंकने आयेगा? सब आपकी तरह थोड़े ही पागल हो गये हैं।

हरि०—हो सकता है, कोई न आये; मगर मुझे तो अपना काम करना चाहिये न?

सुन्दर—जाइये, जो मन में आये सो कीजिये। मैं सोने जाता हूँ। (उठकर चला जाता है। थोड़ी देर में खर्राटा लेने लगता है।)

हरि०—भोला-भाला सुन्दर! कितना अबोध है तू! बच्चे से भी पवित्र हृदय; मगर तुमको लोग अब भी डाकू कहते हैं। परिस्थिति आदमी से क्या-क्या नहीं करवाती! (कुछ चौंककर) आँख क्यों फड़क रही है? अशुभ! क्या होगा? रोहित....तुम कैसे....हो! रानी....(लम्बी सांस लेते हैं। थोड़ी देर सन्नाटा) मैं भी अब जाऊँ, सोऊँ। (उठकर खड़े होते हैं। इतने में रोने की आवाज़ कानों में पड़ती है।) इस काल-रात्रि में भी विपत्ति के मारे लोग आते ही रहते हैं। मौत कितना सत्य है। फिर भी लोग उससे कितना डरते हैं! (रोने की आवाज़ और साफ़ सुन पड़ती है) अब तो उधर जाकर देखना ही पड़ेगा। कम्बल और लाठी लेकर बाहर जाते हैं। आवाज़ अब और साफ़ होती है। "हा बेटा.....छोड़कर....." आदि सुन पड़ता है।) ओह, यह तो किसी स्त्री की आवाज़ मालूम होती है। ओह! कैसा कलेजा हिला देनेवाला रोना है! कैसी अभागिन है यह औरत! ओह! मेरा हृदय इतना कमज़ोर क्यों होता जा रहा है? नहीं, चलूँ, देखूँ। मालिक का हुक्म—(बाहर निकल जाता है।)

चौथा दृश्य

(वही समय। स्मशान का दूसरा हिस्सा। कई चिताएँ बुझ गयी हैं। कुछ बुझने पर हैं। एक में कुछ आग है। वह कभी-कभी भभक उठती है। जैसे बीच-बीच में कोई तेल या घी डाल देता हो। उससे कुछ दूर पर दो-चार स्यार गड़े मुर्दे उखाड़कर नोचते हुए आपस में लड़ रहे हैं। चिता से थोड़ी दूर पर शैव्या रोहित को गोद में लिये बैठी है। कपड़े भीगे हुए हैं। तरह-तरह से विलाप कर रही है।)

शैव्या—हा बेटा !....कहाँ गये छोड़कर....मुझ अनाथ ....तुम पर ही आस लगाए जी रही थी....मेरा दुर्भाग्य ही साँप बन गया....(कुछ देर तक रोती रहती है) बेटा ! (छाती से लगाकर)

बोलो बेटा....तुम्हारी अम्मा.....कैसे रहूँगी.....बेटा, बोलता नहीं.....तू तो ऐसा नहीं था.....
(दूर से "खबरदार, कर चुकाये बिना मुर्दा न फूँकना"—सुनाई पड़ता है। शैव्या उधर देखती है। कुछ दिखाई नहीं पड़ता।) क्या अनाथों के लिये दुनिया में मरने की भी जगह नहीं रही?....मैं कर कहाँ से चुकाऊँगी?.....मैं तो लाल को कभी नया कपड़ा भी खरीदकर नहीं पहना सकी.....हाय, कफ़न भी न दे सकी..... ।

(हरिश्चन्द्र कुछ और पास आते हैं। चिता की रोशनी में शैव्या दिखाई पड़ती है।)

हरि०—देखना, मालिक का हुक्म है। कर चुकाये बिना मुर्दा न फूँकना।

शैव्या—हा देव! मैं दुखिया कर कहाँ से लाऊँ? जलाने के वास्ते लकड़ी तक तो नहीं। क्या ग़रीब इस दुनिया में शांति से मर भी नहीं सकते!

हरि०—देवी, मैं क्या कर सकता हूँ। मैं तो सेवक हूँ। मालिक का हुक्म बजाना मेरा काम है। ख़ैर, तुम कर न दे सकती हो तो कफ़न से ही आधा फाड़कर दे दो।

शैव्या—कफ़न! (चिता में फिर रोशनी होती है। हरिश्चन्द्र शैव्या की ओर देखने लगते हैं। तब तक रोशनी कम हो जाती है।)

नाथ, कहाँ हो? देखो, आज तुम्हारे कलेजे का टुकड़ा बिना कफ़न के पड़ा है। कहाँ गया तुम्हारा धर्म और सत्य! ज़िन्दगी-भर सत्य के पीछे....नाथ! (चिता में फिर रोशनी होती है। हरिश्चन्द्र शैव्या को देखते हैं, कुछ सन्देह में पड़ते हैं। फिर घबराये हुए।)

हरि०—तुम कौन हो?

शैव्या—क्या करोगे जानकर? दुखिया हूँ। राज गया, पाट गया, नाथ गये! यह एक सहारा था, सो आज वह भी चला गया। हाय.....(रोना—फिर रोशनी होती है)

हरि०—(पास आकर) क्या तुम शिवनाथ पंडित के यहाँ दासी का काम करती हो?

शैव्या—(कुछ अकचकाकर हरिश्चन्द्र की ओर सिर उठाकर देखती है। उसी समय चिता जल उठती है।) हाँ तो तुम बड़े दयालु....

हरि०—(पागल की तरह दौड़कर) शैव्या! हा प्राणों से भी प्यारा रोहित....(रोहित को गोद में लेकर अपने को भूलकर रोने लगते हैं।

शैव्या—नाथ, कहाँ गये? अब लाल नहीं रहा! (पैरों से लिपटती है।—कुछ देर रोकर) हाय कुमार! नाथ, तुम्हारे सत्य और धर्म का यही फल हुआ?

(थोड़ी देर तक एक दूसरे से लिपटे हुए रोते रहते हैं। फिर चुप होते हैं। कुछ देर फिर सन्नाटा छा जाता है। शैव्या सिसकती रहती है। हरिश्चन्द्र अपने को सँभालने की कोशिश करते हैं।)

हरि०—यह क्या हुआ शैव्या ?

शैव्या—(रोहित के ऊपर सिर रखकर रोती हुई) मेरे दुर्भाग्य ने लाल को काट खाया। पंडितजी के लिये फूल लाने गया था। वहीं साँप ने····

हरि०—उसकी झाड़-फूँक नहीं हुई ? क्या लाल बिना....(विचलित होकर फिर सँभालते हैं)

शैव्या—झाड़-फूँक हुई, मगर उसे तो काल ने डस लिया था। अब मैं किसका मुँह देखूँगी नाथ !

हरि०—निस्सहाय हरिश्चन्द्र ! (ठंडी सांस लेकर) क्या पंडितजी ने कुछ मदद नहीं की ?

शैव्या—पंडितजी ने कुछ दवा-दारू की; मगर पंडिताइन ने थोड़ी देर बाद दरवाज़ा बन्द कर लिया। घंटे भर भी घर में रहने न दिया। हाय बेटा ! आज तुम्हारे लिये कोई शरण नहीं। हाय रे निर्दय संसार ! (रोहित को लेकर सिसक-सिसककर रोती है।)

हरि०—(कुछ दृढ़ता से) शैव्या, तुम कहा करती थी कि परीक्षा के समय पीछे हटना नहीं चाहिये। आज तो हमारी सब से कड़ी परीक्षा है।

शैव्या—नहीं स्वामी, नहीं। आपके सत्य और धर्म ने कुछ नहीं किया। भगवान को भी दया नहीं आयी। हा—मेरा लाल!

हरि०—'सब कुछ देकर भी धर्म की रक्षा करनी होगी।' यह तुम्हारा ही कहा हुआ है। क्या भूल गयीं? जिस धर्म को अब तक—(हरिश्चन्द्र का गला भर आता है)

हरि०—रानी, अब कुमार का संस्कार कर देना चाहिये। जिन हाथों ने कभी फूलों की सेज सजाई थी, वे ही आज चिता भी रचेंगे। आह....

(शैव्या रोने लगती है)

हरि०—शैव्या! कमज़ोर न बनो। देखो, सबेरा हुआ ही चाहता है। हमें अपने मालिकों के काम पर चला जाना है। हम पहले अपने मालिकों के सेवक हैं, शैव्या और हरिश्चन्द्र बाद। जल्दी करो, कफ़न लाओ।

शैव्या—नाथ, कफ़न कहाँ है? अयोध्या के राजकुमार को आज कफ़न....(रोने लगती है)

हरि०—शैव्या, धीरज धरो। कफ़न नहीं है? (सोचता है) मगर मेरे मालिक की आज्ञा है कि.....। अच्छा, अपनी साड़ी में से फाड़कर दे दो।

(शैव्या हरिश्चन्द्र का मुँह देखने लगती है)

हरि०—शैव्या, क्या देखती हो? कर्तव्य मुझे इतन कठोर बना रहा है। मैं इस समय तुम्हारा पति नहीं रोहित का पिता नहीं; कल्लू चौधरी का सेवक हूँ। उसकी आज्ञा ही ध्रुव धर्म है। जल्दी करो। तुम्हें भी सबेरा होने के पहले ही पहुँच जाना है। अरे, अब तो सब गया—क्या सत्य और धर्म को भी चले जाने दोगी? फिर हमारे पास बचेगा ही क्या? (शैव्या मौन रह जाती है। आँचल बढ़ा देती है। हरिश्चन्द्र एक गज़ का टुकड़ा फाड़ लेते हैं।)

शैव्या—नाथ, यही धर्म है?

हरि०—शैव्या, दुर्बलता छोड़ो। रोहित अब नहीं है। लेकिन हमारा कर्तव्य और धर्म अब भी है।

शैव्या—मगर नाथ, रोहित की चिता लगाने के लिये आज मेरे पास लकड़ी तक नहीं है। (रोती है)

हरि०—मैं अभी चिताओं की बची-खुची लकड़ी चुनकर लाए देता हूँ। (चला जाता है)

(शैव्या चुपचाप आंसू बहाती बैठी रहती है। फिर साड़ी को कमर से कुछ बढ़ाकर किसी तरह ठीक करती है। मगर फिर भी आंचल छोटा ही रहता है। थोड़ी देर में हरिश्चन्द्र अधजली लकड़ियों का बोझ सिर पर उठाये हुए आते हैं। फिर चिता लगाने लगते हैं। पूरब में लाली छा जाती है। शैव्या टकटकी लगाये शून्य दृष्टि से देखती रहती है। चिता तैयार हो जाती है।)

हरि०—शैव्या, अब दुःख छोड़ो। रोहित अब तुम्हारा नहीं है। रखो चिता पर। सबेरा हो चला।

(शैव्या चुपचाप बैठी रहती है। हरिश्चन्द्र रोहित को लेकर चिता की ओर बढ़ते हैं। इतने में "ठहरो-ठहरो"—की आवाज़ सुनाई पड़ती है।

हरि०—(देखकर) अरे, ये लोग कौन हैं? इधर ही आते-से जान पड़ते हैं।

(शैव्या भी उधर देखती है।)

हरि०—ऋषि? विश्वामित्र? हाँ आइये....

शैव्या—हाँ ऋषि, आकर देख जाइये। कलेजा ठंडा हो जायगा! कैसा सत्यानाश करके....

हरि०—शैव्या, यह उचित नहीं। ऋषि ने कुछ नहीं बिगाड़ा। अधीर....

(विश्वामित्र, नक्षत्रक, कल्लू चौधरी, पं. शिवनाथ और अयोध्या के कुछ नागरिक प्रवेश करते हैं)

विश्वा०—महाराज ठहरिये, ठहरिये।

हरि०—ऋषिवर! प्रणाम।

(शैव्या भी प्रणाम करती है)

विश्वा०—महाराज, आज विश्वामित्र आशीर्वाद देने नहीं आया है। आज भी वह आपसे कुछ माँगने ही आया है।

आप दानी ही नहीं, महादानी हैं। आज विश्वामित्र को आख़िरी दान देकर कृतार्थ कीजिये।

हरि०—(भौंचक होकर देखते हैं) ऋषिवर, इस अधम के पास दान देने के लिये अब क्या बाक़ी रह गया है? आप मेरी कैसी परीक्षा करने आये हैं, मुनि!.....इस शरीर पर भी तो अब मेरा अधिकार नहीं रह गया। मैं चांडाल का ख़रीदा हुआ दास हूँ, ऋषि! मैं अब आपको क्या दे सकता हूँ?

विश्वा०—(दृढ़ भाव से) जिसने सपने में दिये हुए दान को जागने पर बिना आगा-पीछा किये दे दिया, जिसने उसकी दक्षिणा चुकाने के लिये अपने को चांडाल के हाथ बेच दिया, जिसने निपूती का अंचल फाड़कर भी अपना फ़र्ज़ अदा किया—वह क्या आज भिखारी ब्राह्मण को ख़ाली हाथ लौटा देगा? माँगने पर भी कुछ न देगा?

हरि०—(अस्त-व्यस्त होकर) आपको अधिकार है ऋषिवर, आप चाहें तो मेरे प्राण ले सकते हैं। मगर मैं अपनी खुशी से वह भी नहीं दे सकता।

विश्वा०—महाराज, आज मैं वह चीज़ माँगने आया हूँ जो आपके अधीन है। मैं आज क्षमा का दान माँगने आया हूँ। क्या आप 'इनकार' कर देंगे? (थोड़ी देर सन्नाटा)—कुमार को इधर दीजिये। (रोहित को गोद में लेकर आँख और जीभ देखते हैं।)

यह जड़ी है। इससे कालकूट विष भी उतर जायगा। रोहित को सुलाकर जड़ी का रस निकालकर उसके कान, नाक और मुँह में डालते हैं। फिर कपड़ा ओढ़ाकर सुला देते हैं। कुछ मंत्र पढ़कर रोहित की सारी देह पर हाथ फेरते हैं।)

विश्वा०—(उठकर) बस, कुछ ही देर में विष उतर जायगा। महारानी, धीरज धरिये। थोड़ी देर में ही आपका लाल आपकी गोद में आ जायगा।

(शैव्या के मुँह पर दुःख और आनन्द के भाव आते-जाते रहते हैं। इतने में चौधरी आकर खड़ा हो जाता है।)

हरि०—चौधरी, मुझे दुःख है कि आज देर हो गयी। मैं अभी आता हूँ। सब काम जल्दी-जल्दी कर लूँगा। (पंडित शिवनाथ की ओर देखकर) पंडितजी, आप भी दासी को क्षमा करेंगे। वह समय पर आपकी सेवा में न पहुँच सकी। मगर आप लोग यहाँ आकर मुझे अचरज में डाल रहे हैं। मेरी समझ में कुछ भी नहीं आ रहा है। अयोध्या के नागरिक भी यहाँ पहुँच गये हैं! ऋषिवर, बात क्या है?

विश्वा०—(रोहित के पास से राजा के पास आते हैं।) आप लोगों को जो मुसीबतें झेलनी पड़ी हैं, उसके लिये मैं अनुताप की आग में जलकर राख हो चुका हूँ। निश्चय कर चुका हूँ कि अब इस समाज में न रहूँगा। हिमालय की

कन्दरा में जाकर तपस्या करूँगा। राजन्, आप मुझे क्षमा कीजिये।

शैव्या—महर्षि, मेरे लाल को बचा दीजिये। बस, और कुछ नहीं चाहिये हमको।

विश्वा०—देवी, आप चिन्ता न करें। कुमार अभी उठ बैठेगा।

हरि०—मगर ऋषिवर, ये लोग यहाँ कैसे आये?

विश्वा०—बात यह है कि अब आप दोनों ऋण-मुक्त हो गये हैं। मैंने पंडितजी और चौधरी का क़र्ज़ चुका दिया है। वे आपको छुटकारा देने आये हैं।

शिवनाथ—हाँ महाराज, महारानी मुक्त हैं। मैं नहीं जानता था कि....। (महारानी से) देवी, अपने अपराधों के लिये कैसे क्षमा माँगूँ? (रोने लगता है)

शैव्या—पिता, आप ही को देखकर मैं समझ रही थी कि दुनिया में आदमी भी रहते हैं। नहीं तो कब की आत्महत्या कर चुकी होती। मगर उसका भी शायद मुझको अधिकार.....

(रोहित की ओर देखती है। वह हिलता-सा मालूम पड़ता है। शैव्या उधर दौड़ती है। विश्वामित्र बीच ही में रोक लेते हैं।)

विश्वा०—अभी नहीं । कुछ और धीरज धरो महारानी !

कल्लू चौधरी—(डरते हुए)हरिसचन्दर महाराज, मैं नहीं जानता था । मेरा क़सूर भी माफ़ करो ।

हरि०—(विश्वामित्र की ओर) मैं कैसे ऋण-मुक्त हुआ, सो समझ में नहीं आता ।

विश्वा०—हाँ महाराज, आप ऋण-मुक्त हो गये ।

हरि०—सो कैसे ? और आपकी दक्षिणा ?

विश्वा०—दक्षिणा अब भी बाक़ी ही रही महाराज ? इतनी यंत्रणाओं के बाद भी ? मैं दक्षिणा के बदले फिर एक नया दान माँगने आया हूँ महाराज ! उसी से मेरी दक्षिणा और मेरे जीवन का अमिट अभिशाप भी चुक जायगा । क्या आप वह महादान देकर जलते हुए इस कलंकित विश्वामित्र को मुक्त न करेंगे ? देखिये, दुनिया को कँपा देनेवाला विश्वामित्र आपके सामने घुटने टेके बैठा है । सत्यवीर, दानवीर महाराज हरिश्चन्द्र, आप क्षमा-दान नहीं देंगे ?

(घुटने टेक देते हैं)

हरि०—(उनके चरणों पर गिरकर) महामुनि, आप मुझे इस तरह आत्मग्लानि में न डालें । आपका कोई दोष नहीं है । आप मेरे गुरु हैं । आपने मुझे सत्य और धर्म का असली रूप दिखाया है । आपके क़र्ज़ से मैं कभी

मुक्त नहीं हो सकता। हरिश्चन्द्र की आत्मा हमेशा आपकी क़र्ज़दार रहेगी। आपके संग से मैंने वह चीज़ पायी है, जो दुनिया की सारी दौलत तो क्या स्वर्ग और मोक्ष से भी महान है। महर्षि, उठिये। मुझे आशीर्वाद दीजिये कि यह सेवक बराबर सत्य और धर्म की परीक्षाओं में उत्तीर्ण होता रहे।

विश्वा०—(उठकर) आज मेरा सारा शोक दूर हो गया। महाराज, तो चलिये, अब अनाथ अयोध्या को सनाथ कीजिये। आपको सिंहासन पर बैठाकर ही मैं हिमालय की ओर पैर उठाऊँगा। (नागरिकों से) नागरिको! क्या कहते हो?

हरि०—(अचरज से देखते हैं)

एक अयोध्यावासी—हाँ, महाराज चलिये। अयोध्या आपके लिए बेहाल है। अयोध्या के लोग रो रहे हैं। उनको चलकर प्राण-दान दीजिये।

सब अयो०—हाँ महाराज, अब आपको चलना ही होगा।

हरि०—यह आप लोग क्या कह रहे हैं? (विश्वामित्र रोहित के पास जाते हैं और 'रोहित-रोहित' पुकारते हैं। रोहित आँखें मलता हुआ उठता है। अकचकाकर इधर-उधर देखता है। विश्वामित्र माथे पर हाथ फेरते हैं। शैव्या दौड़कर आती है और रोहित को गोद में लेकर रोने लगती है। हरिश्चन्द्र स्थिर दृष्टि से देखते रहते हैं।)

रोहित—अम्माँ, मुझे यहाँ क्यों ले आयी हो? ये सब लोग कौन हैं? घर चलो अम्माँ! (पंडितजी को देखकर) पंडितजी, साँप को मार दिया?

पंडित—हाँ बेटा, मार दिया।

(रोहित हरिश्चन्द्र और विश्वामित्र की ओर देखता है—मगर पहचानता नहीं। हरिश्चन्द्र मुस्कुराते हैं। नक्षत्रक प्यार से रोहित को उठाकर एक ओर ले जाता है। शैव्या भी उधर ही जाती है। उसके मुँह पर आनन्द की आभा झलक रही है।)

हरि०—(विश्वामित्र से) ऋषिवर! मैं तो आप ही की राह पर चलना चाहता हूँ! उस झंझट में मुझको फिर क्यों फँसाना चाहते हैं? प्रजा के लिये आप एक योग्य प्रतिनिधि चुन दीजिये। मैं तो अब किसी छोटे-से एक शान्त गाँव में····।

विश्वा०—अगर ऐसा है तो मैं आपको ही उत्तराधिकारी चुनता हूँ। अगर आप मुझे अपना गुरु मानते हैं तो मैं आपको यह आदेश देता हूँ। आपने मुझे राज्य दिया था, मैं फिर आपके हाथों सौंपता हूँ।

हरि०—नहीं ऋषिवर, आपकी आज्ञा का पालन करने में एक बड़ी कठिनाई है। मैं तो राज्य दे चुका। वह चीज़ अब मेरी नहीं हो सकती। सूर्यवंशी दान की हुई चीज़ वापस नहीं ले सकता। वह तो आपकी चीज़ है,

आप सँभालिये। अयोध्यावासियो, आपके महाराज विश्वामित्र हैं। आप लौट जाइये। मैं अगर ऋण-मुक्त हो गया, तो किसी गाँव में जाकर अपने पुराने सपने को सच करने की कोशिश करूँगा। आत्मशांति के लिये मूक जनता की कुछ सेवा करूँगा।

अयोध्यावासी—नहीं महाराज, यह नहीं हो सकता। आपको अयोध्या चलना ही होगा।

हरि०—यह न धर्म है, न सत्य। मैं मरना पसन्द करूँगा, मगर वचन-भंग नहीं। आप लोग व्यर्थ·····

विश्वा०—(कुछ सोचकर) अच्छा महाराज, (नागरिकों से) महाराज ने राज्य दान कर दिया है। ठीक है, वे राजा नहीं हो सकते। इसलिये मैं यह राज्य रोहित को देता हूँ। आप राजकुमार को ले जाइये। उसे सिंहासन पर बिठाइये।

हरि०—यह क्या ऋषिवर·····

विश्वा०—बस, आप अब कुछ नहीं कह सकते। हाँ, अयोध्यावासियों की ओर से मैं आपसे विनती करूँगा कि आप राजकुमार को उन्हें दे दें और जब तक कुमार योग्य न हो जायँ, आप मंत्री की तरह राज-काज सँभालें।

(अयोध्यावासी—"जय-महाराज हरिश्चन्द्र की जय")

(सुन्दर दूर से दौड़ता हाँपता हुआ आता है)

सुन्दर—(सब लोग उसकी ओर देखने लगते हैं) यह क्या महाराज! यह सब क्या? आप क्या कर रहे हैं? यह स्वप्न तो नहीं है?

हरि०—हाँ सुन्दर, यह सब स्वप्न ही है। धीरे-धीरे सब मालूम हो जायगा। देखो, ये ऋषि विश्वामित्र हैं। इन्हें नमस्कार करो। (सुन्दर विश्वामित्र की ओर टेढ़ी नज़र से देखता और नमस्कार करता है) और ये दोनों सज्जन (शिवनाथ और कल्लू चौधरी की ओर) तो काशी के ही रहनेवाले हैं। तुम पहचानते ही होगे। (मुस्कुराते हैं)

विश्वा०—राजन्, यह कौन है?

हरि०—काशी के प्रसिद्ध डाकू सुन्दर का नाम आप लोग जानते होंगे। (कल्लू और शिवनाथ चौंकते हैं) उसी डाकू का यह दूसरा रूप है। अब सुन्दर हरिश्चन्द्र का मित्र है।

सुन्दर—महाराज, मित्र नहीं, सेवक कहिये। महाशयो, महाराज को स्मशान में देखकर मुझे कुतूहल हुआ। पूरा-पूरा हाल जानने के लिये मैं महाराज के पास आया। फिर लोहा चुम्बक के पास से लौट न सका। मेरे विष के दाँत महाराज ने उखाड़ डाले हैं। अब मैंने निश्चय कर लिया है कि महाराज के बताये हुए रास्ते पर चलकर जीवन सफल करूँगा और पुराना पाप, अगर धुल सके तो, धोने की कोशिश करूँगा।

विश्वा०—सुन्दर, तुम धन्य हो जो तुम्हें ऐसे महात्मा का संसर्ग मिला। अच्छा राजन्, अब आपको हमारी प्रार्थना मंजूर करनी ही पड़ेगी।

हरि०—(सोचकर) अच्छा सुन्दर, तुम्हारी राय क्या है?

सुन्दर—क्या? किस बारे में महाराज? मैं कुछ जानता ही नहीं। राय क्या दूँ? मेरी राय की क़ीमत ही क्या है महाराज?

हरि०—नहीं-नहीं सुन्दर! पश्चात्ताप की आग में जलकर तुम्हारा हृदय पवित्र हो गया है। तुम्हारी राय ठीक ही होगी। मैं तुम्हारी बात मानने को तैयार हूँ, कहो।

सुन्दर—(हँसता हुआ) पहले बात भी तो बतलाइये महाराज!

हरि०—हाँ, देखो, सो मैं भूल ही रहा था। ये ऋषि और अयोध्यावासी मुझे फिर से राजा बनाना चाहते हैं।

सुन्दर—यह कैसे होगा? आप तो उसे छोड़ चुके हैं न? और आपका विचार भी तो दूसरा था।

हरि०—वही तो सुन्दर!

विश्वा०—अयोध्यावासियों ने दूसरा प्रस्ताव भी रखा है। वे कहते हैं कि कुमार अयोध्या के राजा बनें और महाराज उनके बड़े होने तक उनकी देख-रेख करें।

सुन्दर—(सोचता है) हाँ····आँ, प्रस्ताव तो बुरा नहीं है। मगर, आपके····गाँव में·····

विश्वा०—गाँव में रहकर भी महाराज वह काम कर सकते हैं। यह ज़रूरी नहीं कि राज सँभालने के लिये अयोध्या के महलों में ही रहा जाय।

सुन्दर—तब तो महाराज, मुझे कुछ एतराज़ नहीं। ठीक भी है। महाराज, तब आप इसे मंजूर कर ही लें!

हरि०—जब तुम कह रहे हो तो मुझे अब सोचना नहीं है। अच्छा·····(हाथ से चलने का इशारा करते हैं)

विश्वा०—कुमार को ले आओ नक्षत्रक!

सुन्दर—(चौंककर) कुमार? यहाँ कैसे?

हरि०—घबराओ नहीं, सुन्दर! बड़ी लम्बी कहानी है। इस दो घड़ी के अन्दर क्या से क्या·····। सब पीछे बतलाऊँगा। तुम मेरे साथ चलने को तैयार हो न?

सुन्दर—हूँ तो, मगर आप राजा हो गये हैं और मैं डाकू ही हूँ—कहीं·····(सब लोग हँस पड़ते हैं)

हरि०—(हँसते-हँसते) चलो-चलो। मेरे बन्दी तो हो ही।

(नक्षत्रक कुमार को लेकर आता है। शैव्या भी पहुँचती है। सुन्दर शैव्या को नमस्कार करता है। उसका अचरज और बढ़ जाता है। रोहित को गोद में लेना चाहता है; पर वह नहीं आता। सब चलने को तैयार होते हैं।)

विश्वा०—राजन्, अब आप मुझे विदा दीजिये!

हरि०—यह क्या ऋषिवर, आप अयोध्या चलिये न?

विश्वा०—नहीं महाराज, अब मैं अयोध्या को यह मुख नहीं दिखला सकता। वह हमारे-जैसों के रहने की जगह नहीं है। दो-चार दिन इधर गंगा के किनारे एकांत में भजन कर हिमालय की राह लूँगा। आप मुझे आज्ञा दीजिये। आपने मेरी आँखें खोल दीं। घमण्डी विश्वामित्र का गर्व सब तरह से चूर कर आपने इसे कल्याण-पथ का पथिक बना दिया। इस विश्वामित्र ने किसी के सामने सिर नहीं झुकाया था। लेकिन आज उसको आपके आगे झुकना पड़ा।

विश्वा०—अच्छा, अब आप लोग शीघ्र जाइये।

(हरिश्चन्द्र, शैव्या तथा उपस्थित अन्य सब लोग—सिवाय सुन्दर और नक्षत्रक के—विश्वामित्र के चरण छूते हैं।)

विश्वा०—(हरिश्चन्द्र को छाती से लगाकर) जाओ हरिश्चन्द्र, तुमने इस पामर पृथ्वी को स्वर्ग से भी श्रेष्ठ बना दिया। सत्य की यह पहली विजय है। तपस्या में लीन ऋषियों ने आत्मा के अन्तर में इसका अनुभव किया था और बड़े गर्व से कहा था—"सत्यमेव जयते नानृतम्"। लेकिन

जीवन को होम करके आज पहली बार तुमने इसकी सचाई दुनिया के सामने खोली है। तुम उन ऋषियों से भी श्रेष्ठ हुए। साधारण मनुष्य तुम्हारा नाम लेकर ही सत्य को पहचानेगा और साहस करके उसे अपनायेगा। तुम्हारी कीर्ति तीनों लोकों में अमर रहेगी। इस आशीर्वाद के सिवा आज मेरे पास और देने लायक़ क्या है?—जाओ, तुम्हारे साथ विश्वामित्र का कलंक भी महान होकर रहेगा। आज मुझे इस बात का आनन्द ज़रूर है कि मेरे कारण दुनिया में सत्य की ऐसी ज्योति फैली है। धन्य हरिश्चन्द्र और धन्य यह विश्वामित्र !! (आँखों से आँसू निकल पड़ते हैं)

(सहसा वसिष्ठ का प्रवेश। सब लोग घबराकर उनके चरण छूते हैं।)

वसिष्ठ—(विश्वामित्र को गले से लगाकर) ब्रह्मर्षि, मैं दूर से यह तमाशा देखकर अपने को भूला जा रहा था। धन्य विश्वामित्र! इस राजर्षि के आगे झुककर तुम ब्रह्मर्षि से भी महान हो गये। सचमुच तुम साधना में बेजोड़ हो। यह वसिष्ठ तुम्हारे चरणों में नत होता है। (चरणों में झुकते हैं)

विश्वा०—(झट उठाकर) ब्रह्मर्षि, तुम्हारे शिष्य ने अपनी महत्ता से इस तुच्छ विश्वामित्र को भी महान बना दिया है। आज मैं तुम्हारे महत्त्व को पहचान रहा हूँ, तुम्हारे चरणों का दास बन सकता हूँ। लेकिन इसका श्रेय तुम्हारे शिष्य हरिश्चन्द्र को है।

वसिष्ठ—हरिश्चन्द्र तो तुम्हारा ही शिष्य है। तुम्हीं ने इसकी परीक्षा ली और उत्तीर्ण होने का प्रमाणपत्र दिया। सत्य की इस जीत का सारा श्रेय तुम्हीं को है महर्षि !

(विश्वामित्र और नक्षत्रक को छोड़कर सब धीरे-धीरे चले जाते हैं)

विश्वा०—(कुछ क्षण बाद) नक्षत्रक !

नक्षत्रक—(जैसे सोये से जागकर) हाँ गुरुजी !

विश्वा०—देखो, मनुष्य राक्षस भी हो सकता है और देवता भी। सुन्दर राक्षस था, देवता हो गया और मैं····

नक्षत्रक—(श्रद्धा और भक्ति से) गुरुजी, आज आप देवता से भी ऊँचे, ईश्वर से भी बड़े हो गये। मैंने देवता को नहीं देखा है; ईश्वर को भी नहीं देखा है; पर आपको बहुत पास से देखा है। आपका राक्षस हृदय कभी इतना महान हो सकता है—यह मैंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था। आज आपका विरक्त शिष्य अनुरक्त होकर चरणों में लोटता है।

(चरणों में लोटता है)

विश्वा०—(नक्षत्रक को छाती से लगाकर) नक्षत्रक !

नक्षत्रक—(भर्राई हुई आवाज़ में) गुरुजी !